TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180114

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H 830.1 | R16J Accession No. G.H.176
Author रामस्वरूप-1
Title राजस्थानी बोलती है।
This book should be returned on or before the date last marked below.

ज़िंदगी बोलती है

ज़िन्दगी बोलती है

(कहानी-संग्रह)

लेखक :—

रामस्वरूप

★ प्रकाशक :
मेघराज अग्रवाल,
शतदल प्रकाशन,
४६।१ स्ट्रान्ड रोड़,
कलकत्ता—७

★ चित्रकार :
शशिकान्त

★ प्रथम संस्करण

★ मूल्य : पौने तीन रुपये

★ कवर मुद्रक :
बर्मन एण्ड कम्पनी,
कलकत्ता—१

★ मुद्रक :
ए० मुखर्जी,
श्री भारती प्रेस,
६४।ए धर्म्मतल्ला स्ट्रीट,
कलकत्ता—१३

दहकते अंगारे ... ७
चोर २४
दूसरा पहलू ... ३३
ऑक्टरलानी मनूमेंट ... ४६
रहस्यमयी ... ५९
चिराग़ जलेगा ... ६७
योजना ... ७६
डूबता उगता सूरज ... ९४
हा-हा-हा ... १०८
बिन्दकी की बिन्दकी देवी १२२
हमराही ... १३२
प्रकाश की ओर ... १४२

● ● ● ● ●

आज पार्वती सो नहीं पा रही है। लगातार कई घण्टों से वह शीतलपाटी पर करवटें बदल रही है। सोने के तमाम उपक्रम, कोशिशें बेकार साबित हो रही हैं। उसके मन-प्राण आज जैसे एक अव्यक्त अपमान से बोझिल हो गए हैं। चाहने पर भी वह इस अपमान का प्रतिकार सोच नहीं पा रही है। भयङ्कर आंधी और तूफान की तरह उठते विचारों के प्रबल प्रवाह को दूसरी ओर मोड़ने की कोशिश, वह करती है। कोशिश वह करती है,, अपने मन को दूसरी ओर बहकाने की।

किन्तु झटके के साथ, एक लमहे में फिर उसका मन वहीं पहुँच जाता है। फिर उसके विचार, उसी जगह केन्द्रीभूत हो जाते हैं।

कोई हल, कोई प्रतिकार न सोच पाने पर, वह स्वयं पर ही झल्ला उठती है। परेशान होकर, उस गहन अन्धकार में भी वह छत की कड़ियाँ गिनने की कोशिश करने लगती है। अपने मन को उसमें उलझाये रखने का प्रयत्न करती है। लेकिन यह उलझाव एक क्षण के लिए ही हो पाता है। ठीक उतने ही समय तक, जितनी देर तक एक परिश्रमी लुहार का कुशल और सधा हाथ निहाय पर हथौड़े से दूसरी चोट करने के लिए ऊपर उठा रहता है। निहाय पर पड़े हथौड़े की चोट की तरह ही राधा का व्यङ्ग-वाक्य उसके दिलोदिमाग़ पर पड़ता है। इस चोट से जैसे वह तिलमिला उठती है, चीख उठती है।

लेकिन खामोशी के साथ !

इस खामोश चीख की अन्तर्ध्वनि उसके मन-प्राण को उद्वेलित कर देती है, एक भयानक हलचल पदा कर देती है। दिमाग की सारी नसें झनझना कर टूटने लगती हैं। वह कड़ियां गिनना छोड़ कर करवट बदल लेती है। लेकिन इस करवट भी राधा का वह वाक्य सुई की तरह उसकी रग-रग में चुभने लगता है और असंख्य सुइयों की चुभन की पीड़ा से, वह अन्दर ही अन्दर चीत्कार कर उठती है — एक खामोश, ध्वनिहीन चीत्कार !

हार कर वह शीतलपाटी पर बैठ गयी ।

मैले-कुचैले कम्बल को उसने अपने शरीर से थोड़ा अलग कर दिया। सामने की खिड़की से सर्द हवा का एक तेज झोंका आया। भीषण सर्दी की रात में, सर्द हवा का झोंका, उसके दुबले-पतले शरीर में कंपकंपी पैदा कर देने के लिए काफी था। लेकिन उस समय जाने क्योंकर,सर्द हवा का वह झोंका उसे बड़ा प्रीतिकर,बड़ा भला लगा। जैसे अन्तर में सुलगती ज्वाला पर यह सर्द हवा एक क्षण के लिए हावी हो गयी हो, और उसे कुछ राहत मिली हो।

उसने एक गहरी साँस भीतर की तरफ खींची; जैसे इस सर्द हवा को वह अपने अन्तर में समा लेना चाहती हो ताकि इसकी ठंडक से उसके अन्तर की प्रज्वलित अग्नि शान्त होजाय।

पूरी तरह से न भी बुझ पाए, कुछ देर के लिये थोड़ी राहत तो मिले। किन्तु उसकी वह कोशिश भी बेकार सावित हुई। क्योंकि हवा सर्द हो या गरम, उसका तो स्वभाव ही है—अग्नि को प्रज्वलित करना। और इस समय भी हवा ने वही काम किया जो उसे करना चाहिये था।

उसका कलेजा जैसे धू धू कर जल उठा हो। कलेजे की जलनसे उसका मुँह विवर्ण होगया। आँखों की झील में ज्वार आ गया।

अपने मन को जबरन दूसरी ओर मोड़ने का जैसे उसने

अन्तिम प्रयास किया हो। लालटेन जला कर अपने पास रख ली और शीतलपाटी पर अपनी दृष्टि स्थिर कर ली। शीतलपाटी जगह जगह से टूट गयी थी। जगह जगह से निकली कमचियों से रिक्त हुए स्थान ऐसे लगते थे; जैसे किसी मानव की हड्डी के ढांचे से कई हड्डियाँ विभिन्न स्थानों से काट कर निकाल ली गयी हों। मानव के ऐसे विकृत ढांचे की कल्पना कर वह सिहर उठी। उसे कंपकंपी-सी अनुभव होने लगी।

तभी राधा के वे शब्द उसके दिमाग में चुभ उठे। जैसे अचानक किसी ने उसके दिमाग़ में कील ठोंक दी हो। वह तड़प उठी। रोकने की कोशिश के बावजूद, एक हल्की-सी चीख उसके मुँह से निकल पड़ी।

राधा ने कोई ऐसी खास बात नहीं कह दी थी। जाने कैसे एक साधारण-सी बात उसे इतनी गहरी चोट पहुँचा गयी। बात साधारण-सी ही थी। शादी के बाद राधा पहले पहल ससुराल से लौटी थी। पास-पड़ोस की सखी-सहेलियाँ उसे घेर कर बैठी थीं। शाँति, कमला, सरस्वती, पार्वती आदि सभी तो समवयस्क सखियां थीं। सभी बचपन में साथ खेली-कूदी थीं। सब अपने अपने ढँग से, उसे अपने पति के बारे में पूछती थीं।

और वह राधा, जानी पहचानी सखियों के सामने भी लज्जा से सिकुड़ कर गठरी बन गयी थी। किन्तु यह स्थिति बहुत देर

तक न रह सकी। राधा भी अपनी सहेलियों से, अपने प्रियतम की बात कहना चाहती थी।

अपनी सखियों से अपने प्रियतम की बात कहने में, उसके अवगुणों और बुराइयों को भी सद्‌गुणों और अच्छाइयों के रूप में बखान करने में एक अव्यक्त आनन्द अनुभव होता है, जिसकी अवहेलना कर सकना हर एक के बूते की बात नहीं है। राधा भी उस आनन्द की अवहेलना नहीं कर सकी।

उसने अपने पति की धन-जायदाद को बढ़ा-चढ़ा कर बताया। अपने पति के प्यार का एक वृहत् उपाख्यान-सा वर्णन कर डाला—"वह उसे अपने हाथ से खिलाता था। दिन रात चौबीसों घण्टे हाथ बाँधे, उसका हुकुम बजा लाने को तैयार खड़ा रहता था। और कितना बलवान है वह! उसे जब वह अपनी सशक्त बांहों में जकड़ लेता था, तब उसका तो दम फूलने लगता था।"

और उस जकड़ को याद भर करने से जैसे उसका दम फूलने लगा हो, जोर-जोर से साँस लेने लगी।

फिर उसके पति ने जैसे सब कुछ रटा दिया हो, रटे तोते की तरह बोलने लगी—"यों दो-चार बाल जरूर पक गये हैं, दांत भी टूट गये हैं, आँखों से थोड़ा दिखाई भी कम देता है और कुछ मामूली दमा की सी शिकायत भी है। लेकिन तुम तो जानती हो बहन, बाल तो आजकल बचपनमें ही पकने लगते हैं। दांत उसने

नये लगवा लिये हैं । कितने साफ और चमकीले दांत हैं, उसके ! आँखों से कम दिखना आजकल कोई खराबी की बात नहीं समझी जाती। बच्चे तक चश्मा लगाते हैं। वह भी चश्मा लगाता है। और दमा की शिकायत तो, तुम जानती हो बहन, सिगरेट, तम्बाकू पीने से हो जाती है। आखिर जिसके पास धन दौलत रहेगी, वह तो पिये-खाएगा ही। उसे कुछ मांग-जोख कर थोड़े ही करना पड़ता है। बस लछमी जी की दया है, दया।"

ये मुख्तसर-सी बातें थीं, जो राधा ने अपने पति के बारे में बताई।

शांति, कमला, सरस्वती, पार्वती के अलावा पास-पड़ोस के पचासों नर-नारियों ने शादी के समय राधा के पति को देखा था। कइयों ने तो नांक-भौं सिकोड़ कर धीमी आवाज में कह भी दिया था— बसन्त और पतझड़ का यह मधुर मिलन कैसा ?

और इस नटखट शांति ने तो जैसे गजब ही ढा दिया था। उसके मुँह में कभी लगाम नहीं रही। राधा की माँ को सुना कर पार्वती से उसने कहा था—"बूढ़ा खूसट है, खूसट ! कमर झुक गयी है। जवान दिखने के लिये बनावटी दांत लगा रखे हैं । बालों में खिजाब लगा रखी है। आँखें जैसे गढ़े में छिपी रहने का दुराग्रह कर चुकी हैं। उन पर चाँदी की कमान का चश्मा तो बस तमाशा ही बन कर रह गया है।"

तब राधा की माँ ने ऐसी क्रोध भरी नजर शान्ति पर डाली थी; जैसे बिल्ली अपनी पकड़ से दूर बैठे चूहे पर डालती है !

शान्ति को तो उस नजर ने चुप कर दिया था, लेकिन किस-किस की जबान पकड़ी जाती। वहाँ तो मोहल्ला भर जमा था।

भांवर पड़ते समय सबने देखा था— जैसे ज़िन्दगी और मौत एक सूत्र में आबद्ध हो रहे हों ! एक ओर ज़िन्दगी थी तो दूसरी ओर प्रत्यक्ष मौत।

लोगों के मन में यह सवाल उठा था— जिन्दगी और मौत का यह कैसा मिलन है ?

लेकिन यह मिलन हुआ। और उन्हीं की मौजूदगी में हुआ। इस मिलन के वे सब गवाह बने थे। बाजे-गाजे गवाह थे। समाज के पञ्च, अग्नि, रोशनी और आतिशबाजी ने इस मिलन पर अपनी मुहर लगाई थी।

लेकिन आज ? आज उन बातों का याद करने की जरूरत नहीं थी, उन्हें दोहराने की आवश्यकता नहीं थी। राधा ने अपने पति की आवश्यकता से अधिक बढ़ा चढ़ा कर तारीफ कर दी थी, तो उसे चुपचाप सुन लेना चाहिए था। लेकिन यह शांति तो अशान्ति का घर जो ठहरी। जब तक दो चार खरी-खोटी सुन नहीं लेती या दूसरे को सुना नहीं देती, उसे चैन ही नहीं मिलता।

बस झट से बोल ही तो उठी—

"हमने भी देखा है तेरे कामदेव को। बस रहने भी दे। तारीफ के पुल ही बाँध दिये। काले-कलूटे बुढ़े खूसट पर जब तुझे इतना गुमान है तो कोई अपने जवान और खूबसूरत आदमी पर कितना गुमान करेगी ? उसकी कितनी तारीफ करेगी ? कुछ उसके लिए

भा ती छोड़ दे।"

शान्ति का इशारा अपने पति की तरफ था। दरअसल उसका आदमी जवान, तन्दुरुस्त और अच्छी खासी शकल-सूरत का था। गांव भरने,सभी सखी-सहेलियों ने उसके मरद की तारीफ की थी।

वस्तुतः वह था तो तारीफ के लायक ही, किन्तु इस समय ऐसी चर्चा की कोई आवश्यकता नहीं थी।

राधा शान्ति की बात से हतप्रभ हो गयी। वह शान्ति की तरफ कुछ क्षणों तक अपलक ताकती रही—किंकर्तव्यविमूढ़-सी।

आश्वस्त होने पर भी शान्ति पर किसी किस्म की छींटाकशी करने की उसकी हिम्मत नहीं हुई। गाँवके सबसे वड़े धनी आदमी की बेटी जो थी, वह। बचपन से ही शान्ति के सामने, वह अपने आपको कमजोर, छोटा समझती आयी है। आज भी उसके सामने होने का साहस उसमें नहीं था। किन्तु इस अपमान से उसका मुँह आरक्त हो उठा।

बिल्ली जब छींके तक नहीं पहुँच पाती तो खिसिया कर अपने पञ्जों से जमीन ही नोचने लगती है। ठीक वैसा ही,राधा ने भी किया। शान्ति पर वार करने में असमर्थ हो, उसने पार्वती पर अपना क्रोध निकाल डाला।

रुआँसी-सी होकर बोली—

"हां बहन, वह तो बूढ़ा खूसट है। पर तेरा कामदेव मेरे किस काम का। अपनी अपनी तकदीर है। जो मिल जाता है, उसी पर तो संतोष करना पड़ता है। अपनी ही चीज पर तो आदमी

गुमान करेगा। फिर चाहे वह अच्छी हो या बुरी। लेकिन मेरी तकदीर तुमसे बुरी है तो क्या हुआ, बहुतों से अच्छी भी है। कइयों को तो कोई बूढ़ा खूसट भी नहीं पूछता।"

राधा का इशारा पार्वती की ओर ही था, यह सब ने समझ लिया। इस अन्तिम वाक्य ने पार्वती के मर्मस्थल पर एक ऐसी तीखी चोट की, जिसके लिये वह कतई तैयार नहीं थी। क्रोध और अपमान से उसका मुंह रक्तिम हो उठा। भीतर ही भीतर वह तिलमिला उठी। प्रतिकार के लिये उसका हृदय तड़प उठा। लेकिन प्रतिकार वह कर न सकी। सोच-समझ सकने की स्थिति से वह बाहर हो गयी थी। कुछ आश्वस्त होने पर उसकी आँखें छलछला-आयीं। लगा, जैसे अब वह रो पड़ेगी। लेकिन किसी के सामने वह रो नहीं सकती थी। इसलिये वहां से उठ जाना ही उसने बेहतर समझा।

दरअसल ऐसी कोई बात नहीं थी कि कोई बूढ़ा खूसट भी उसे नहीं पूछता। वह कोई कुरूप नहीं है। नाक-नक्शा भी ठीक है। उम्र भी कोई ज्यादा नहीं है। यही होगी अठा-रह बरस के आसपास। गृहस्थी का सारा काम-काज भी जानती है। थोड़ा बहुत लिखना-पढ़ना भी जानती है। रामायण पढ़ लेती है। चिट्ठी-पत्री लिख लेती है। और उसके विवाह की चर्चा कहीं न चली हो, ऐसी बात भी नहीं है। विवाह की

चर्चा चली और कई जगह चली। लड़केवाले इसे देखने भी आये। उसे चला फिरा कर, हँसा-बुला कर ठीक उसी तरह देखा भी गया; जैसे बैल या गाय खरीदते समय लोग दांत, मुँह, पैर, आदि अच्छी तरह देख लेना चाहते हैं। और ऐसी परीक्षाओं में वह कभी असफल भी नहीं हुई। एक जगह लेन-देन की रकम भी तय हो गयी थी। आधी रकम तिलक के रूप में उसी समय दे दी गयी थी। बाकी रकम विवाह के अवसर देना निश्चित हुआ था।

लड़के के घरवालों की माली हालत तो अच्छी नहीं थी लेकिन लड़का अच्छा था। कालेज में पढ़ता था। उसकी फोटो आई थी। अँग्रेजी लिबास में कितना अच्छा लगता था वह।

पार्वती फोटो पर बस एक उड़ती-सी नजर डाल पायी थी। देखते ही जैसे बिक गयी हो। एक अपरिचित-सी सिहरन में वह खो गयी थी। उसका मन, उसका रोम-रोम जैसे एक मादक हर्षोल्लास से नाच उठने को आतुर हो उठा हो। कुछ अजीब से ख्याल उसके दिलो-दिमाग पर छा गये थे। नारा-सुलभ आत्म-समर्पण की एक नवीन भावना जाने कैसे, कहाँ से उसके मन में हिलोरें लेने लगी थी!

जिस तरह यह भावना उसके लिये बिल्कुल नयी थी, उसी तरह इस भावना के साथ उसे एक बिल्कुल नये तरह का, एक अपरिचित-सा आनन्द अनुभव हुआ था, जिसमें उसका मन झूम-झूम उठता था और जो केवल

अनुभव ही किया जा सकता है, व्यक्त नहीं।

उस रात भी वह सो नहीं पाई थी। ऐसी रात पर जीवन भर की नींद, सारा आराम लुटाया जा सकता है। कोई भी लुटा सकता है। उस रात वह प्यारी प्यारी, मीठी-मीठी कल्पनाओं में इतनी विभोर हो गयी थी कि रात के अन्धेरे पर कब ऊषा रानी ने विजय प्राप्त कर सारी पृथ्वी पर अरुणिमा बिखेर दी, उसे पता नहीं लगा।

वह सबेरा उसके लिये एक नया सन्देश लेकर आया था। उमड़ती हुई खुशियों का सन्देश!

जैसे जैसे विवाह की तिथि नजदीक आती जाती थी, पार्वती की तन्मयता, उसकी खुशी बढ़ती जाती थी। लेकिन ठीक उसके विपरीत, पार्वती के बूढ़े माँ-बाप ज्यादा चिन्तित होते जाते थे।

बेटी को विदा करने का दिन नजदीक आ रहा है। इस दुख में तो आनन्द भी निहित रहता है। इसलिये इस दुख से तो उन्हें इतना दुखी नहीं होना चाहिये। तो फिर, उसका बूढ़ा बाप क्यों चिन्तित रहता है? यह पार्वती लाख सोचने-विचारने पर भी समझ न सकी।

लेकिन यह भेद भी एक दिन खुल ही गया।

शादी का दिन निश्चित हो चुका था। अङ्गुली पर गिनने लायक दिन रह गये थे।

पार्वती अपने भावी जीवन की मधुर कल्पनाओंमें आत्म-विभोर थी। अन्धेरा होते ही वह अपनी कोठरी में चली

जाती, लेकिन नींद उसे बहुत ही कम आती। आती भी तो रात्रि के अन्तिम समय में, जब मीठी-मीठी कल्पनाओं का जाल बुनते-बुनते वह थक कर चूर हो जाती।

उस रात वह हिसाब लगा रही थी कि उसकी कल्पनाओं को साकार होने में कितने दिनों की देर है। तभी उसे धीमी-धीमी सिसकियाँ सुनायी दीं।

पहले तो उसे विश्वास ही नहीं हुआ कि उसके अपने घर में, जहाँ शादी का नाच, रंग, धूमधाम, हर्ष और उल्लास की प्रतीक शहनाइयों का दिल में हिलोरें पैदा करने वाला सुमधुर संगीत गुञ्जित होनेवाला है, कोई सिसकियाँ भर सकता है। लेकिन अपनी कोठरी से बाहर आकर मां की कोठरी के देहलीज पर खड़े होकर उसने जो कुछ देखा, सुना, उस पर अविश्वास करने की गुञ्जाइश ही नहीं रह गयी थी।

माँ की कोठरी में अर्द्ध रात्र के समय भी लालटेन जल रही थी। माँ सिसकियाँ भर रहा थी और उसके वृद्ध पिता अपना सिर घुटनों में छिपाये कुछ बुदबुदा रहे थे। आसन्न आशंका से बुत सी बनी पार्वती वहीं खड़ी रह गयी। माँ की सिसकियाँ कम हुईं।

उसने अपने पति को अपनी ओर मुखातिव करते हुए पूछा—'तो अब क्या होगा? मेरी बच्ची का क्या होगा?"

पार्वती के पिता ने बड़ी मुश्किल से अपना सिर ऊपर उठाया।

पार्वती ने जैसे आज कई महीनों बाद अपने पिता को देखा हो। कितने बूढ़े हो गये हैं? चिन्ता की गहन रेखाएं उनके उन्नत ललाट पर स्पष्ट अंकित थीं। जैसे उनमें जबान हिलाने की भी शक्ति न रह गयी हो।

बहुत धीरे धीरे बोले—

"आज आखिरी कोशिश में भी निराशा ही हाथ लगी। रुपयों की व्यवस्था नहीं हो सकी। अब तो कोई चारा नजर नहीं आता।"

बोल कर पुनः उन्होंने अपनी गर्दन गड़ा ली; जैसे अपनी गर्दन का बोझ भी अब वह सम्भाल न पायेंगे। इतना टूट चुके हैं। इतनी निराशा उन पर व्याप्त हो गयी है।

पार्वती की मां ने इस बार नजदीक जाकर अपने पति से पुनः वही प्रश्न किया—"तो मेरी बच्ची का क्या होगा? मेरी लाड़ली का क्या होगा?"

"यही तो मैं भी सोचता हूँ पार्वती की मां!" गर्दन नीचे किये ही उन्होंने उत्तर दिया—"लेकिन कुछ समझ में नहीं आता। चारों तरफ अन्धेरा दिखाई देता है। कहीं प्रकाश की किरण नजर नहीं आती। पार्वती की माँ, अब कोई आशा नहीं रही।"

एक बाप के टूटे हुए, हारे हुए दिल की आवाज थी वह। इसमें एक ऐसी करुणा थी, एक ऐसी मायूसी थी, एक ऐसी बेबसी थी, जो किसी पत्थर-दिल इंसान का कलेजा भी करुणा से आप्लावित कर देने की क्षमता रखती थी।

पार्वती में इससे अधिक सुनने की शक्ति नहीं रह गयी थी। उसके पैर लड़खड़ाने लगे। लेकिन सुनना जरूरी था। इसलिये चौखट पकड़े वह खड़ी रही।

पत्नी का हृदय भी भर आया। वह अपने पति के बालों को सहलाते हुए अत्यन्त मृदु स्वर में बोली—

"तुम्हारे स्कूल से कुछ कर्ज नहीं मिल सकता क्या? कोशिश कर देखो, शायद कुछ मिल जाय। आखिर लड़की के हाथ तो पीले करने ही होंगे।"

सिर हिलाते हुए पार्वती के पिताने कहा—

"नहीं! पार्वती की मां! नहीं। तिलक के समय स्कूल से जो कर्ज लिया था, वह भी तो अभी पूरा नहीं चुका सका हूं। अब वहां से मिलने की कोई उम्मीद नहीं है।"

पार्वती इससे ज्यादा न सुन सकी। लड़खड़ाते पैरों से वह अपनी कोठरी में वापस आ गयी। एक क्षण में उसके सारे मनसूबे खाक़ में मिल गये। सारी मधुर कल्पनाएं ताश के महल की तरह ढ़ह गयीं। वह अपने बिस्तर पर गिर कर सुबक सुबक कर रोने लगी। रोते रोते थक कर वह सो गयी।

पिता ने लड़के के बाप को साफ साफ इस समय की अपनी असमर्थता के बारे में लिख दिया था। उत्तर जो आना था, वही आया। यही कि लड़के की शादी वहाँ नहीं हो सकती। वचन-भंग करने की सजा में तिलक के रुपये हजम कर लिये गये।

माँ नित्य प्रति सुबह गंगा-स्नान करने जाती थी। लड़केवालों का पत्र प्राप्त होने के दूसरे दिन, हमेशा की तरह माँ गंगा-स्नान करने गयी तो फिर लौट कर नहीं आयी। करीब अड़तालीस घंटे बाद उसकी लाश मिली। किसी ने कहा—"बेचारी स्वर्ग चली गयी।"

किसी ने कहा—"सती थी, सती। बेचारी का पैर फिसल गया। चली गयी गहरे जल में।"

लेकिन पार्वती और उसके पिता दोनों ही जानते थे कि क्यों उसका पैर फिसल गया था, और क्यों वह गहरे जल में चली गयी थी? पिता अपनी असमर्थता पर लज्जित थे। वह स्वयं को पत्नी का घातक समझते थे। उनको विश्वास था—अगर पार्वती की शादी नहीं रुकती तो वह नहीं मरती। और चूँकि यह जिम्मेदारी बाप होने के नाते उनकी थी, सिर्फ उनकी, इसलिये बाप की जिम्मेदारी तो वह निभा पाये ही नहीं, अपनी पत्नी की जान लेने वाले भी स्वयं वह ही हैं।

असमर्थताजन्य लज्जा और आत्मग्लानि से वह भीतर ही भीतर घुटे जाते थे। भीतर की घुटन आड़ी तिरछी झुर्रियों और रेखाओं के एक अजीब से जाल के रूप में उनके चेहरे पर, अब स्पष्ट अंकित हो गयी थीं। उनका खाना-पीना अब प्रायः नहीं के बराबर हो गया था। पहले भी स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, अब तो सूख कर कांटा हो गये थे। पार्वती से अब वह बहुत ही कम

बोलते थे। सामने पड़ने पर भी उसकी तरफ देखने की उन्हें हिम्मत नहीं होती।

पार्वती यह सब देखती, समझती है। वह समझती है कि मां की मृत्यु का कारण स्वयं वह ही है। और अपने बाप की सारी चिन्ताओं का विषय भी स्वयं वह ही है। वह रोज ही सोचती, घंटों सोचती रहती कि वह क्या करे जिससे उसके बूढ़े बाप की चिन्ताएँ दूर हो जायें? लेकिन कल तक उसे रास्ता नजर नहीं आया।

किन्तु आज!

आज राधा के शब्दों ने तीर की भाँति उसके हृदय को बेध कर रख दिया है, दिलोदिमाग को झकझोर डाला है। एक भयानक हलचल पैदा कर दी है। आज उसे कुछ निर्णय करना ही पड़ेगा।

हां! आज उसे किसी फैसले पर पहुँचना ही पड़ेगा। मां को तो वह नहीं बचा सकी, परन्तु अपने बूढ़े बाप की चिन्ताओं को दूर करना ही पड़ेगा। यह उसका कर्तव्य है। सन्तान का अपने बाप के प्रति फर्ज!

इस के अलावा, स्वयं उससे भी तो सखी-सहेलियों के ये रोज-रोज के ताने नहीं सुने जाते। अपने बूढ़े बाप कीओर मोहल्ले भर के मर्द औरतों की उठती अंगुलियाँ अब उसे असह्य

हो गयी हैं। उसे इस समस्या का एक ही समाधान, एक ही हल नजर आता है। और वह है, शादी कर लेना। हाँ, यह समाधान तो है। हल तो जरूर है। लेकिन विवाह होना तो कोई आसान बात नहीं है। अगर विवाह ही हो पाता, तो क्यों उसकी माँ मरती? क्यों उसका बूढ़ा बाप निराशा से इतना टूट जाता?

किन्तु हाँ, हो सकता है। अब हो सकता है, हाँ अब हो सकता है। क्योंकि अब अच्छे या बुरे लड़के की तलाश नहीं करनी है। बल्कि लड़के के बाप को खोजना है। और बाप आसानी से मिल सकता है। राधा के पति की तरह, किसी लड़के का रहमदिल बाप उसका भी उद्धार करने के लिये तैयार हो जायेगा। फिर कई लोग कानाफूसी करेंगे। फिर उसकी सहेली वह शांति, अशांति मचाने की कोशिश करेगी। फिर ज़िन्दगी और मौत एक सूत्र में आबद्ध होगी। फिर बसन्त और पतझड़ के इस मिलन पर समाज अग्नि, रोशनी, बाजे-गाजे और वे कानाफूसी करने वाले भी, अपनी स्वीकृति की मुहर लगा देंगे। ऐसी जबर्दस्त और मजबूत मुहर जो सिन्दूर का रक्तिम दाग मिटा दिये जाने पर भी लगी रहेगी। कितनी मजबूत है यह मुहर!

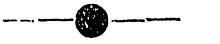

● ● ● ●

आज फाइलों में शेखर अपने मन को उलझा नहीं पा रहा है। न जाने क्यों, अकारण ही वह आज खिन्न हो उठा है। ये फाइलें, दफ्तर के ये सुपरिचित फर्नीचर, असमय ही बूढ़े हुए ये सहयोगी, टाइपराइटर की खट... खट... सबसे ऊब कर एक अव्यक्त झल्लाहट के साथ वह बाहर की रेलिंग पर कोहनी के सहारे झुक कर खड़ा हो गया है।

नीचे एक कतार से कपड़े की दुकानें सजी हैं— कपड़ा ही कपड़ा। नज़र की पहुँच तक चारों ओर सूती, रेशमी, सादा,

रंगीन और तरह-तरह के कपड़ों की भरमार। यह कपड़े का कटरा है। यह उच्च-मध्यम श्रेणी के व्यापारियों का बाजार है, जो हर समय बिड़ला-टाटा बनने की सुखद कल्पना को साकार करने में व्यस्त रहते हैं।

एक सरसरी नज़र से वह दुकानों को देख गया। कोने में स्थित एक बड़ी दुकान पर उसकी दृष्टि स्थिर हो गई।

यह प्रसिद्ध फर्म श्यामलाल भैरोंदास की दुकान है। ये एजेण्ट्स भी हैं, इम्पोर्टर्स भी हैं, थोक और फुटकर व्यापारी भी और न जाने क्या क्या हैं ?

इस फर्म का मालिक सेठ श्यामलाल दुकान के बीचोंबीच मसनद के सहारे लेटा, अपने बेडौल पेट पर हाथ फेरता रहता है। सामने रखे तीन टेलीफोनों में से किसी एक का चोगा उसके कान पर लगा रहता है। आयरन के शेयर खरीदता है, मेटल बेचता है, रूई का भाव पूछता है, पाट की हजारों गांठों का सौदा करता है, और एक घिनौनी मुस्कराहट के साथ बेडौल पेट पर हाथ फेरता रहता है।

शेखर इस सेठ की मुस्कराहट का ख़्याल कर सिहर उठा। यह मुस्कराहट ठीक ऐसी ही है; जैसी किसी हट्टे-कट्टे बकरे को बेक़ाबू कर इत्मीनान से धीरे धीरे हलाल करते समय कसाई के मुँह पर नाच उठती है।

यह सेठ अभी पिछले वर्ष तक वस्त्र-व्यवसाइयों की एसोसियेशन का सभापति था। शेखर तब भी आज की तरह

ही इस एसोसियेशन का आफिस सेक्रेटरी था। एक दिन अचानक ही पुलिस ने इस दुकान पर छापा मारा और जाने क्या कुछ गोलमाल मिला था कि सेठजी को पुलिस के साथ जाना पड़ा था। लेकिन वह ले जाया गया था—बाइज्ज़त ही, मोटर में।

किसी ने कहा—"सेठजी बड़ा ब्लैक करते थे, ब्लैक-मार्केटिंग के केस में पकड़े गये हैं।"

दूसरे ने कहा—"सप्लाई विभाग से एसोसियेशन के नाम मिले कपड़े के परमिट को अकेले ही हड़प गये थे।"

गरज यह कि जितने मुँह उतनी बातें।

लेकिन शेखर को अच्छी तरह यह जरूर याद है कि वह एसोसियेशन के सदस्यों के लिये कपड़े की कुछ गांठों का परमिट लाया था। लेकिन उस परमिट के कपड़े को कब बांटा गया, कैसे बांटा गया, उसे कुछ पता नहीं। क्योंकि यह महत्वपूर्ण काम सभापति खुद ही करता है।

आफिस सेक्रेटरी का इससे कोई ताल्लुक नहीं। उसका काम तो लिखना-पढ़ना और कपड़े का परमिट प्राप्त कर सभापति के सुपुर्द कर देना भर है। और निष्प्रयोजन शेखर अपनी टांग इसमें क्यों अड़ाता?

जो हो, लोग अनुमान जरूर लगा रहे थे कि सेठजी को सज़ा अवश्य हो जायेगी। लेकिन लोगों का अनुमान गलत निकला। दूसरे दिन ही सेठजी अपनी मुस्कराहट के साथ अपने बेडौल पेट को सहलाते हुए सदा की भाँति मसनद के सहारे लेटे देखे गये।

कैसे छूटे, क्या हुआ था, किसी को कुछ पता नहीं।

लेकिन उस दिन सब से पहला काम जो उन्होंने किया, वह था परमिट सम्बन्धी कागज-पत्रों की फाइल एसोसियेशन से मंगवा लेना। और दूसरा काम जो उन्होंने किया, वह था एसोसियेशन के सभापति पद से इस्तीफा। कारण यही जो आम तौर पर ऐसे मौके पर उत्पन्न हो जाया करते हैं—समय नहीं मिलता, काम बहुत बढ़ गया है, आदि आदि।

कल्पना का प्रवाह अवरुद्ध हो गया। "चोर चोर" की आवाज़ से सारा कटरा गूँज उठा। फिर चहल पहल। चोर की लात घूंसों से पूजा।

यहां के दो वर्षों के जीवन में शेखर कई चोरों को पुलिस के हवाले कर चुका है। आए दिन इस कटरे में ऐसी वारदातें होती रहती हैं। इसलिये वह उसका अभ्यस्त हो गया है। शेखर धीरे धीरे सीढ़ियां उतर कर भीड़ के पास पहुँचा। चोर शेखर के हवाले कर दिया गया। शेखर अन्यमनस्क-सा चोर को अपने पीछे आने का संकेत कर दफ़्तर के कमरे की ओर चला।

दफ़्तर में अपनी कुर्सी पर इतमीनान से बैठ कर शेखर ने एक सरसरी नजर चोर पर डाली।

करीब तीस बरस का युवक। रक्तहीन पीला चेहरा। गढ़े में धँसी आँखें। गन्दे फटे कपड़े, कृशकाय बदन। पायजामा शायद ज्यादा फट जाने की वजह से घुटनों के

ऊपर तक मुड़ा हुआ। लगा--जैसे पशु-पक्षियों को डराने के लिये खेत में सूखे बाँस को आदमी का जामा पहना कर खड़ा कर दिया गया हो।

चेहरे से एक ऐसी मासूमियत टपकी पड़ती थी कि अगर चोरी की हुई एक साड़ी उसके पास से बरामद न हुई होती तो कोई भी उसे चोर करार नहीं दे पाता। लेकिन वह चोर था, उसने चोरी की थी। पर शेखर का मन उसे चोर के रूप में ग्रहण नहीं कर पा रहा था। आज तक कितने ही चोर पकड़े गये और शेखर ने उन्हें पुलिस के सुपुर्द कर अपना फ़र्ज पूरा किया था।

लेकिन अपने मन के इतने बड़े प्रतिरोध का सामना उसे कभी नहीं करना पड़ा था। उसका मन जैसे उसी से बग़ावत करने को आमादा हो गया हो, मानता ही नहीं कि यह युवक चोरी कर सकता है, चोर है।

लेकिन शेखर उस साड़ी को क्या करे जो सामने टेबल पर पड़ी मानों पुकार पुकार कर कह रही है—"यह चोर है, यह चोर है। इसे प्रश्रय देना जुर्म है, नैतिक अपराध है।"

कुछ देर में मन की ही विजय हुई। शेखर चोर के प्रति सहृदय हो उठा। उसकी तरफ नजर डाली। वह चुपचाप सिर नीचा किये खड़ा था—निश्चल, किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा। शेखर ने उसे सामने पड़ी कुर्सी पर बैठने को कहा। जैसे किसी गम्भीर चिन्तन में हो और शेखर की बात सुन कर भी समझ न पाया हो, वह

भौंचक्का-सा उसकी ओर विस्फारित नेत्रों से देखने लगा। इस बार शेखर ने बैठ जाने का संकेत किया। वह एक झिझक के साथ बैठ गया—गुमसुम, चुपचाप।

शेखर ने बड़ी मृदुता से पूछा—"आपने यह सब क्यों किया?" और फिर बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये ही एक नसीहत दे डाली—"आप को ऐसा नहीं करना चाहिये था।"

गले की लोच ने मन में परिव्याप्त अपनत्व की भावना का अभिव्यक्त कर दिया।

कोई मंजा हुआ खिलाड़ी होता तो इस सहृदयता और अपनत्व-प्रकाश से लाभ उठा लेता। झूठे ही रो पड़ता और कहता—"मैंने चोरी नहीं की है, चोर दूसरा ही है,मैं तो फँस गया हूँ।" लेकिन यह चोर कुछ अजीब मिट्टी का बना था।

उत्तर में उसने कहा—"आप क्यों फिजूल सरदर्द मोल लेना चाहते हैं। मुझे पुलिस के हवाले कर अपना फर्ज़ पूरा कीजिये। मने चोरा की है,जुर्म किया है। इसलिये सजा मिलनी ही चाहिये। मिलेगी ही।"

शेखर उसे अपलक देखता रहा। उसका अन्तर्मन जैसे बोल उठा हो—यह चोर नहीं हो सकता। बोलचाल से पढ़ा-लिखा भी जान पड़ता है।

शेखर उसके विषय में जानने को आतुर हो उठा। टेबल के सामान्य-से व्यवधान को पार कर शेखर उसके अत्यन्त करीब आ गया और उसके कन्धे पर हाथ रख, अत्यन्त

गम्भीर स्वर में बोला—"मेरा मन कहता है, आप पेशेवर चोर नहीं हैं। लेकिन जिज्ञासावश अगर मैं कुछ जानना चाहता हूं तो बताने में आप को क्या एतराज हो सकता है, समझ में नहीं आता।.....फिर भी मैं आपको मज़बूर नहीं करूंगा।"

सहानुभूति और अपनत्व की भावना में सने शब्दों ने युवक के मन-प्राण को जैसे झकझोर डाला हो। उसकी आखें सजल हो उठीं और लगा, जैसे वह जोर से रो पड़ेगा। लेकिन कुछ क्षणों में अपने को पूर्णतया काबू में कर उसने उत्तर दिया—"आप विश्वास करें, चोरी करने के इरादे से मैं यहां नहीं आया था। पढ़ा-लिखा भी हूं। कालेज में चंद साल गुजारने का मौका भी मिला है। काम चाहता हूं, लेकिन काम जैसे मेरी छाया से घबराता हो, दूर भागता है। दफ़्तरों के दरवाजों से सर टकराने से हार कर बूट-पालिश करने लगा। दिन भर की कमाई से अपना और अपनी पत्नी का पेट भी जब नहीं भर पाता था तब पुलिस की पूजा कैसे कर पाता। मेरा चालान कर दिया गया। जुर्माना न दे सकने पर सज़ा हो गयी। लौटने के बाद फिर वही धन्धा शुरू किया। रास्ते में झमेला करने के अपराध में पुलिस ने फिर चालान कर दिया। फिर सज़ा मिली। और अब इधर तो मेरा और मेरी पत्नी के उपवास का क्रम बिना किसी विघ्न-बाधा के कई-कई दिन तक चलता है। कष्ट सहता आ रहा हूं, इस आशा से कि अब जल्द ही पटाक्षप होने वाला है.....ज़िन्दगी के नाटक का।"

बड़ी तेज खाँसी आ गई । कुछ देर खाँसने के बाद कांपता हुआ, उठ कर वह बाहर नाले पर थूक आया । दम फूल गया था। कुछ क्षण चुपचाप बैठ रहा । स्वस्थ होने पर बोला—"खून से सना बलगम आता है। पानी से अभी नाला साफ करवा दीजिये ।"

दो घूँट पानी पी कर क्रम जोड़ते हुए उसने कहा—"मैं लंगोटी पहन कर भी बाकी के दिन पूरे कर सकता हूं । लेकिन पत्नी को लज्जा-निवारण के लिये, तन ढाँकने के लिये तो वस्त्र चाहिये ही ।"

"आज सबेरे उसने अपनी एक मात्र, कई पैबन्दों से युक्त साड़ी धो कर सुखा दी थी । वह भी गायब हो गई । वहां सभी तो मेरी स्थिति के लोग बसते हैं । किसी ने ले ली होगी । सबसे पूछा गया ; लेकिन किसी ने जानकारी प्रकट नहीं की । वह रुआँसी होकर मेरे सामने खड़ी हो गयी ।"

"मैं कुछ नहीं कर सकता, मैं कुछ नहीं कर सकूंगा। अपनी मजबूरी,अपनी असमर्थता पर लज्जित,पत्नी की नजर से बच कर सिर नीचा किये निकल पड़ा—निरुद्देश्य, निरर्थक । पैर जिधर ले चले, ले चले । मस्तिष्क का योग पैरों को न मिला । विभिन्न विचारों में खोया मैं यहां तक कैसे, कब पहुँच गया, पता नहीं। होश तब आया जब इस बाज़ार में तेजी से जाते एक आदमी से टकरा कर मैं गिरते-गिरते बचा ।"

"देखा चारों तरफ कपड़ा ही कपड़ा । रंग-बिरंगी साड़िया की भरमार । मुझे लगा जैसे पत्नी के लिये साड़ी खरीदने ही मैं

यहां आया हूँ। वस्तुस्थिति का ज्ञान जाने कैसे लुप्त हो गया। एक साड़ी उठा कर कीमत के लिये जब पाकेट में हाथ डाला तब क्रूर सत्य मेरी नज़रों के सामने अट्टहास कर नाच उठा। लेकिन तभी पत्नी आँखों में उतर आई। उसका कृशकाय शरीर, असमय ही बुढ़ापे के स्पष्ट अंकित चिन्ह और वस्त्र के अभाव में मात्र हाथों से लज्जा निवारण का असफल प्रयत्न। और इसी समय अग्नि और पंचों के सामने की गयी प्रतिज्ञा मेरे कानों में गूंज उठी। और मैं अपने आपे में न रह सका। मैंने साड़ी उठाई और बूते भर तेजी से दौड़ पड़ा। लेकिन···लेकिन····।"—वह और आगे न बोल सका।"

शेखर जैसे अपने आप से उलझ पड़ा—"यह चोर है? इसे तुम चोर कहते हो? अगर तुम इसे चोर कहते हो तो बताओ कैसा है तुम्हारा न्याय? कैसी है तुम्हारी व्यवस्था? कैसा है तुम्हारा विधान? जीवन के लिये निहायत आवश्यक वस्तु का एक ओर घोर अभाव और दूसरी ओर निष्प्रयोजन टाल की टाल। आवश्यकता से भी कम एक साड़ी, सिर्फ एक साड़ी पर चोरी का इल्ज़ाम। न्याय का ढोंग और फिर सज़ा।

और दूसरी ओर सेठ श्यामलाल आदमी का खून चूसता है। घिनौनी मुस्कुराहट के साथ बेडौल पेट पर हाथ फेरता है। रंगे हाथों पकड़े जाने पर भी उसको सज़ा नहीं मिल सकती। सज़ा नहीं मिल सकती, क्योंकि व्यवस्था उस जैसों की है। इन्हीं के बल बूते पर यह धर्मोईमान की व्यवस्था कायम है।

दूसरा पहलू

● ● ● ●

अपनी प्रेमिका के पतले, रसीले, मधुर होठों की याद—उन होठों की याद, जिन पर कि अब रक़ीब का सामाजिक अधिकार हो गया हो—जितनी प्रिय किसी को हो सकती है, उतना ही प्रिय मुझे उसकी स्मृति है। किन्तु इतनी प्रिय होने के बावजूद, उसे भूल जाने के लिये ही, पिछले कई वर्षों से मैं लगातार घूमता-फिरता रहा हूं। आज यहां तो कल वहां। जहां कहीं रुकने की सोचता, लगता जैसे उसकी स्मृति पर छाए समय के पर्दे को कोई धीरे-धीरे

खींच कर हटाने की कोशिश करने लगता हो। और तब...? तब....तब एक अजीब-सी जलन मेरे मन में महसूस होती। लगता, जैसे अब हृदय की गति बन्द हो जाएगी। एक पागलपन-सा मुझ पर छा जाता और ..और मैं भाग खड़ा होता—उस जगह से, उस स्थान से।

और इस तरह चलता ही रहा हूं, घूमता ही रहा हूं—उस गोल चक्कर की तरह, जो किसी पहाड़ की ऊँची चोटी से नीचे की ओर लुढ़का दिया गया हो और जो बेरोक, बेपनाह चलता जा रहा हो।

बेरोक, बेपनाह घूमते, चलते चक्कर के सामने एक चट्टान आ गई। गति अवरुद्ध हो गई। आज यहां राजेन्द्र से मुलाकात हो गई। राजेन्द्र मेरे बचपन का साथी है। खाते-पीते घर का बेटा। उच्च शिक्षा के लिये विदेश चला गया था। लौटा, तब सुनहले भविष्य ने अपनी तमाम रङ्गीनियों और खूबसूरती के साथ स्वागत किया। धनी घर में शादी हुई। लाखों का माल मिला। उच्च सरकारी अफसर बन गया। विदेश गया था, तब हम मिले थे या अब मिल रहे हैं—कई वर्षों के बाद। उसने अपने बँगले चलने का अनुरोध किया, आग्रह किया और फिर हठ कर बैठा—चलना ही पड़ेगा।

मैं ना नहीं कर सका। उसके हठ के सामने झुकना ही पड़ा।

चाय जब टेबुल पर सजा दी गई, राजेन्द्र ने अपनी पत्नी को

परिचय के लिए बुलाया। मैंने आँखें नीची कर लीं। मेरे कानों ने नजदीक आती पैरों की धीमी-धीमी आहट सुनी। फिर करीब ही साड़ी की हलकी-सी सरसराहट। और तब···? तब बहुत ही कोमल और मधुर शब्द मेरे कानों में समा गये—"नमस्ते।"

सुपरिचित ! जानी-पहचानी आवाज़ ! वही आवाज़, जो कभी मेरे हृदय से उठती, किन्तु निकलती थी—दूसरे कण्ठ से। कानों ने पहचाना, आँखों को बताया और आँखें ! आँखें बग़ावत पर आमादा हो गईं।

कहीं मुबालगा तो नहीं हो रहा है ? कान धोखा तो नहीं खा रहे हैं ? मैंने झुकी गर्दन को उठाया। नमस्ते का उत्तर देने के लिये हाथ जोड़े। लेकिन होंठ हिल कर रह गये। शब्द झुलस कर रह गये।

देखा। देखा और बस देखता ही रह गया। आँखें खुली की खुली ही रह गईं, जमी की जमी ही रह गईं। हटने का नाम ही नहीं लेती थीं। जिसकी कोमल-सी, मधुर-सी स्मृति भुला देने के लिये मैं गोल चक्कर की तरह घूमता रहा हूं—वही प्रेम ! प्रेम ! प्रेम ! हाँ, प्रेम। नहीं, प्रेमलता। अब मिसेज राजेन्द्र।

मन के तहखाने में मजबूत बेड़ियों से जकड़ी पिछली स्मृतियाँ, आजाद होने के लिये कशमशाने लगीं, बेताब हो उठीं। पिछले वायदे, जैसे हवा में गूंजने लग गये हों। कसमें जो अब काफी पुरानी हो गयी थीं, बूढ़ी हो गई थीं, मरने को थीं, जैसे फिर से जवान होकर

अपनी तमाम मधुरता के साथ कानों में झंकृत हो उठी हों। जैसे एक भयङ्कर आँधी आ गई हो।

तूफान ! तूफान, जिसने मेरे मन-प्राण को झकझोर डाला। बड़ी मुश्किल से मैं अपने आपको काबू में रख सका। जबरन आँखें नीची कर, मैंने नमस्ते का उत्तर दिया।

प्रेम के चेहरे पर कैसे भाव आये, गये ? वह सहमी, चौंकी या बुत-सी खड़ी रह गयी ? या फिर कुछ भी असाधारण लक्षित हो सका या नहीं, मुझे कुछ नहीं मालूम। क्योंकि मैंने आँखें नीची कर ली थीं। मैं चुप था। प्रेम चुप थी। राजेन्द्र भी चुप था। इस चुप्पी को राजेन्द्र ने ही तोड़ा। मेरा परिचय कराया। मेरी तारीफ की। बहुत दिनों बाद मिलने की बात कही और यह भी बताया कि कई वर्षों से मैं इधर-उधर मारा मारा फिर रहा हूं। और फिर एक गुंजा देनेवाली हँसी के साथ मजाक करते हुए कहा—"क्या ज़िन्दगी भर इसी तरह साधु-संन्यासी ही बने रहोगे ?"

मैं चुप ही बना रहा।

इसके बाद प्रेम को भी कुछ बोलना पड़ा। उसने भी दो-चार बातें कहीं। कुछ पूछा। आँखें नीची किये ही मैंने उनका हां, ना में उत्तर दे दिया।

राजेन्द्र ने लक्ष्य किया या नहीं, नहीं मालूम। लेकिन मुझे प्रेम की आवाज अस्वाभाविक-सी लगी। जैसे अभी अभी एक भयंकर मानसिक तूफान से वह गुजरी हो और अभी

तक पूर्ण रूप से आश्वस्त न हो सकी हो। शब्द जैसे जबरन बाहर निकाले जा रहे हों—आवाज करने के लिये ही। मेरे कानों को लगा जैसे यह आवाज किसी गहरे कूंए से आ रही हो।

चाय पीकर राजेन्द्र खड़ा हो गया। बोला—"तुम लोग बातें करो। मैं तैयार होकर आता हूं। बाहर चलेंगे।"

राजेन्द्र के जाने के बाद कुछ देर पूर्ण निस्तब्धता छाई रही। कोई कुछ नहीं बोला। बोल सकने की किसी में हिम्मत ही नहीं थी। उस गम्भीर, उदास खामोशी में मेरा दम घुटने लगा। शायद प्रेम का भी दम घुटने लगा हो। इस निस्तब्धता को बोल कर तोड़ने का साहस मैं नहीं बटोर सका। इसलिये उठने का उपक्रम करने लगा। तभी एक ठण्डी, धीमी, काँपती-सी आवाज में प्रेम बोली—"मैं लाचार थी, मुझे माफ कर दो! मुझे माफ कर दो, किशोर!"

इस माफी माँगने की बात के लिये मैं कत्तई तैयार नहीं था। मेरे सामने पिछली सारी घटनाएँ घूम गईं। हमेशा साथ रहने, साथ मरने, साथ जीने के उसके वायदे, वे कसमें, फिर धोखा, हाँ, धोखा!

मुझे सब याद आने लगे। मेरा मन क्रोध और अपमान से भर गया। लेकिन क्रोध को मैंने रोका। पिछले अपमान को पी गया। और बोला—"उन बातों को भूल जाना

ही अच्छा है। आप अब श्रीमती प्रेमलता माथुर हैं, प्रेम नहीं हैं। वह किशोर मर गया है और प्रेम भी। आप अब केवल प्रेमलता माथुर हैं—श्री राजेन्द्र माथुर की पत्नी ! पत्नी ! सिर्फ पत्नी !—और कुछ नहीं।"

मैने देखा, प्रेम की आँखें भर आई थीं। बड़ी-बड़ी आंखों के कोनों में मोती जैसे अटक कर रह गये हों— न गिरते थे, न सूखते थे। अब वह मेरी ओर ताकने लगी थी। बड़ी-बड़ी आँखें मेरे चेहरे पर टिका दी थीं—स्थिर, अपलक। मुझे लगा, जैसे मेरे मुँह पर पिछली सारी घटनायें चलचित्र की तरह एक के बाद दूसरी उभरती हों, स्पष्ट होती हों, फिर तुरन्त ही नष्ट हो जाती हों और जिन्हें वह अपलक देख रही हो। किन्तु मेरे लिये यह स्थिति असह्य हो उठी। अगर अभी राजेन्द्र आ जाय, तो क्या होगा ? वह क्या समझेगा ? मेरा तो खैर कुछ विशेष नहीं बिगड़ेगा। लेकिन इस प्रेम का क्या होगा ? इस औरत का क्या होगा ? एक के बाद दूसरे उठते प्रश्नों ने मुझे परेशान कर दिया और मैं खड़ा हो गया। किन्तु प्रेम जैसे एक मजबत पाश से मेरे शरीर के साथ बँधी हो, यों मेरे साथ-साथ ही, मेरे चेहरे पर आँखें गड़ाये खड़ी हो गई। कमरे से बाहर निकल जाने के अलावा, अब मेरे पास कोई चारा नहीं रह गया था। मैं घूमा और जैसे ही बाहर होने को था, धड़ाम से जमीन पर गिरने के शब्द ने मुझे,मेरे पैरों को जकड़ दिया। उलट कर देखा—प्रेम जमीन पर पड़ी थी—

बेसुध, बेखबर, बेहोश। किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा मैं उसके करीब खड़ा रहा। उसके मुँह से बहुत धीरे-धीरे, बार-बार अस्फुट शब्द निकल रहे थे—"माफ कर दो।"

प्रेम के गिरने की आवाज सुन कर नौकरानी दौड़ी आई। आते ही बोली—"घबराने की कोई बात नहीं है। बाबू! यह अक्सर इसी तरह बेहोश हो जाती हैं। अभी होश में आ जायेंगी।"

नौकरानी की सहायता से मैंने प्रेम को जमीन से उठा कर सोफे पर लिटा दिया। उठाकर लिटाने में उसके कपड़े अस्त-व्यस्त हो गये थे। मैंने देखा—उसकी पिंडलियों पर, उसकी गर्दन के निचले हिस्से पर—आगे और पीछे उसकी बाहों पर बेंत के निशान थे। बाहों के निशान तो ताजे ही जान पड़ते थे। कहीं-कहीं खाल उड़ जाने से, वहां का जमा खून साफ दिखाई देता था—सूखा खून कुछ नीलेपन के साथ।

मेरा रोम-रोम काँप उठा; जैसे मेरे पैरों के नीचे से धरती खिसक गई हो। किसने यह घृणित नृशंस कृत्य किया है? कौन है वह? इच्छा हुई, नौकरानी से पूछूँ। लेकिन उससे पूछना कुछ जँचा नहीं। नौकरानी प्रेम को होश में लाने का उपाय सोच रही थी।

वहाँ से हटकर मैं बगल के कमरे में चला गया, जो सम्भवतः राजेन्द्र का 'स्लीपिंग रूम' था। कमरा नवीनतम ढंग से सजा हुआ था। सजावट की तरफ मेरा ध्यान नहीं था। मेरा दिमाग

व्यस्त था, यह सोचने में कि प्रेमलता—साहब की पत्नी, घर की मालकिन—को कौन मार सकता है ? क्यों मार सकता है ? यह बात तो सहज ही समझ में आने लायक थी कि घर की मालकिन को घर का मालिक ही मार सकता है। लेकिन उसने क्यों मारा ? क्यों मारा उसने ?

सोचते-सोचते मैं पलङ्ग के करीब रखी टेबल के पास चला गया। टेबल पर एक अत्यन्त रूपवती युवती की बर्स्ट फोटो थी। मैंने उसे अपने हाथ में उठा लिया। फोटो पर नीचे की ओर बहुत ही सुन्दर अक्षरों में लिखा था—'विथ लव'। और उसके नीचे मोती जैसे हस्ताक्षर थे—फ्लोरा नैथेनियल।

कुछ क्षण तक मैं हतप्रभ-सा वैसे ही खड़ा रहा। मेरी समझ में नहीं आ रहा था—मैं क्या देख रहा हूं ? यह सब क्या है ? थोड़ा आश्वस्त होने पर प्रश्नों से मैं बोझिल-सा हो उठा।

तो अब बात प्रायः स्पष्ट हो गई। राजेन्द्र इस सुन्दरी के साथ देर तक बाहर रहता होगा। शायद यहां भी आती हो वह। प्रेम विरोध करती होगी। जरूर करती होगी कि और···और ..। और बस वही...जो होता आया है·····राम के युग से, कृष्ण के युग से, तुलसी के युग से। अभी तक, आज तक। वही हुआ होगा। वही हुआ होगा, जो मैंने देखा—बेंत के दाग, खाल उड़ी हुई, जमा खून ! सूर्ख खून के साथ हलका नीलापन !!

लेकिन यह कोई कैसे विश्वास करे कि सभ्य, सुसंस्कृत, विदेश से उच्च-शिक्षा प्राप्त व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ इतनी नृशंसता,

इतनी निर्दयता का व्यवहार करेगा, कर सकता है ? उसी ने किया है, ऐसा वे दाग बोलते हैं, उड़ी हुई खाल बोलती है, जमा खून बोलता है, और बोलता है—सूर्ख खून के साथ हल्का नीलापन ।

यह प्रेम, इसका प्रतिरोध क्यों नहीं करती ? चुपचाप सब कुछ सह क्यों लेती है ? क्यों नहीं, वह ईंट का जवाब पत्थर देती ? यह समझ में नहीं आता । अगर प्रेम राजेन्द्र से प्यार करती होती तब तो उसका यह सहना समझा जा सकता था । क्योंकि प्यार होने पर, सब कुछ सहने की बात सुनी गई है । लेकिन यह प्रेम तो उसे प्यार भी नहीं करती । तो फिर किसलिये वह ऐसा व्यवहार सहती है ? और चुपचाप सहती है । क्यों ? आखिर क्यों ? क्यों करती है वह ऐसा ? क्यों, क्यों—मेरा अन्तर्मन पूछ उठा। कण्ठ से आवाज नहीं निकली, जीभ नहीं हिली, होंठ बन्द थे, किन्तु फिर भी मुझे लगा, जैसे सारी फिजाँ में, सारे वातावरण में क्यों, क्यों, बस यही दो शब्द छा गये हैं, उन्हीं की प्रतिध्वनि चारों तरफ गूँज उठी है और मेरी आँखों के चारों तरफ जैसे किसी ने प्रश्नवाचक चिन्ह बना दिये हों । जहां देखता हूं, जिधर देखता हूं—वहीं प्रश्नवाचक चिन्ह, कानों में उन्हीं दो शब्दों की गूंज । मैंने अपने हाथों से कान और आँखें बन्द कर लीं ।

तभी राजेन्द्र आया । मुझे ऐसी हालत में देख कर, उसने समझा—शायद प्रेम के बेहोश हो जाने के कारण ही मैं घबरा

गया हूं। उसने कहा—"तुम्हें घबराने की कोई जरूरत नहीं है दोस्त ! वह तो ठीक हो गई है। उसे यह बीमारी है। वह अक्सर इसी तरह बेहोश हो जाती है।"

मैं आश्वस्त हो चुका था। मैंने पूछा—"डाक्टरों की क्या राय है ? ऐसा क्यों होता है ?"

उसने मुस्कराते हुए कहा—"हृदय रोग बताते हैं। दवाई तो चलती ही रहती है। लेकिन कोई खास लाभ नहीं दिखाई देता। खैर छोड़ो इन बातों को। चलो बाहर चलें।"

शहर के सबसे सुन्दर और मशहूर सेण्ट्रल होटल के प्रशस्त आधुनिक ढङ्ग से सजे डाइनिंग हाल में अर्द्धनग्न देशी-विदेशी युवतियों के नाच-रंग की थिरकनों की छाया में हमने खाना खाया। राजेन्द्र ने तो पी भी। पीते समय राजेन्द्र ने बताया—"यहाँ हिन्दुस्तानी और अँग्रेजी दोनों तरह के नाच होते रहते हैं। हिन्दुस्तानी नाच भी क्या नाच है ? बस अकेली औरतें नाचती रहतीं हैं। मजा तो बॉल-डांस में आता है। औरत-मर्द साथ-साथ नाचते हैं। स्पर्श ! सिहरन !! सिहरन और स्पर्श !"

और फिर इस तरह का भाव बनाया जैसे किसी के अधरों को चूम रहा हो। मैंने कहा—"अब चलो, भाई ! देर हो रही है।"

उसने कहा—"ठहरो। थोड़ी देर ठहरो। मेरी खातिर।"

और दरवाजे की तरफ देखने लगा। मुझे लगा—शायद किसी की इन्तजारी है।

सिगरेट का धुंआ चारों तरफ छा गया था। प्रायः प्रत्येक के मुँह में सिगरेट थी, औरत हो चाहे मर्द। बोतलों और शीशे के गिलासों के टक्करों की ध्वनि सारे हाल में गूँज रही थी। सामने नाच हो रहा था। अँग्रेजी नाच चल रहा था। स्पर्श! सिहरन!

राजेन्द्र उठा। भीतर आती एक युवती की ओर बढ़ा। दोनों हाथ में हाथ डाले मेरे पास आये। यह शकल तो जानी-पहचानी थी। मुझे ख्याल आया—इसी की फोटो तो मैंने राजेन्द्र के 'स्लीपींग रूम' में देखी थी। हाँ, वही तो है! राजेन्द्र ने परिचय कराया—"मिस फ़्लोरा नैथेनियल। मेरे दफ़्तर में काम करती हैं। मेरी मित्र हैं।" फिर मेरे बारे में कहा—"मेरा बहुत पुराना दोस्त है। बहुत दिनों बाद मिला है। हम साथ ही पढ़ते थे। नाम है किशोर।"

फ्लोरा ने हँसी बिखेरते हुए अपना हाथ आगे बढ़ा दिया और बोली—"Glad to meet you".

मैंने भी नम्रता से उत्तर दिया—"I too".

फिर कुछ देर हम बातें करते रहे। वस्तुतः फ़्लोरा काफी रूपवती युवती थी। लहराते हुए बाल। अच्छा नाक-नक्शा, मँझला कद। आँखें बड़ी-बड़ी, समुद्र की सी गहराई लिये। उस गहराई में नारी की स्वाभाविक सौम्यता, सौजन्यता और सरलता थी। उन दोनों की बातों से, भाव-भंगिमा से ऐसा

महसूस हुआ ; जैसे फ्लोरा राजेन्द्र से प्रेम करती है और शायद शादी कर लेने का भी दोनों ने एक दूसरे से वायदा कर रखा है।

हो सकता है, फ्लोरा को राजेन्द्र की पहली शादी के बारे में मालूम न हो ।

'बॉल-डांस' खत्म हुआ ।

हिन्दुस्तानी नाच शुरू हुआ ।

राजेन्द्र को यह पसन्द न था । लेकिन मैंने देखा—फ्लोरा इस नाच को बड़े ध्यान से देख रही थी, जैसे देख कर ही सीखने की कोशिश कर रही हो । उसकी अंगुलियाँ टेबुल पर ताल देने लगीं थीं ।

इस नाच का समय भी खत्म हुआ । फिर "बॉल-डांस' आरम्भ हुआ । इसमें राजेन्द्र और फ्लोरा भी शरीक हुए । मुझे भी कहा गया, लेकिन मैं तो जानता ही नहीं था । इस-लिए अपनी मजबूरी जाहिर कर दी । फिर वही नाच, स्पर्श सिहरन,.....सिहरन और स्पर्श !

अकेला पाकर फिर उन्हीं प्रश्नों ने मुझ पर आक्रमण कर दिया ।

क्यों ? क्यों सहती है—वह प्रेम ऐसा अत्याचार ? ऐसा बर्बर, नृशंस व्यवहार ? क्यों वह कुछ नहीं बोलती ? क्यों वह प्रतिरोध नहीं करती ? क्यों वह विरोध नहीं करती ? क्यों वह ईंट का जवाब पत्थर से नहीं देती ?

मेरा मन जैसे धीरे-धीरे जवाब देने लगा हो—शायद इसलिये कि रोटी-कपड़ों के लिये प्रेम उसी पर आश्रित है। शायद इसलिये कि आर्थिक दृष्टिकोण से उसका अपना अलग अस्तित्व नहीं है .....

तभी सामने कुछ शोर-गुल हुआ। मेरा ध्यान उधर खिंच गया। देखा—कई लोग जोर-जोर से कुछ बोल रहे हैं। राजेन्द्र फ्लोरा का हाथ पकड़ कर अपनी ओर खींच रहा है और फ्लोरा गुस्से से तमतमायी हुई मुँह से, शरीर से विरोध कर रही है। नशे और गुस्से में सब कुछ भूल कर, अपनी आदत के अनुसार राजेन्द्र ने फ्लोरा के गाल पर एक तमाचा जड़ दिया। फ्लोरा की गहरी भावमयी आँखों में जैसे बिजली कौंध गई हो। गुस्से से उसका सारा शरीर काँपने लगा। उसने भी ईंट का जवाब पत्थर से दिया। तमाचा, लात, जूते राजेन्द्र पर बरसने लगे। सब तमाशा देखने लगे।

फ्लोरा ने ईंट का जवाब पत्थर से क्यों दिया?—मेरा अन्तर्मन मुझ से प्रश्न कर उठा।

ऑक्टरलानी मनूमेन्ट

शाम बाजार से एसप्ले-नेड तक चलकर आने में सहदेव को करीब डेढ़ घण्टे का समय लग गया। एसप्लेनेड ट्राम जङ्क्शन से कुछ कदम दक्षिण की ओर बढ़कर अमेरिकन इन्फारमेशन ब्यूरो के ऊपर स्थित विशालकाय घड़ी पर उसने नजर डाली।

दस बजे थे। चौरङ्गी के राजपथ पर काले-गोरे मेम-साहब, किरानी और चपरासी सभी अपनी स्थिति के अनुसार कार, टैक्सी, बस, ट्राम और कुछ पैदल ही दफ्तर पहुँचने के लिये तेजी

से जा रहे थे। एक दूसरे को आँख उठा कर देखने की किसी को फुर्सत नहीं, आवश्यकता नहीं, और कुछ मतलब भी नहीं ; जैसे मानव की शक्ल के आदमकद सेल्यूलाइड के खिलौनों में, किसी निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिये चाबी भर दी गई हो।

बगल में दबाये दैनिक अमृतबाजार पत्रिका को खोल कर, सहदेव ने पुनः एक सरसरी नजर एक क्लर्क की आवश्यकता के विज्ञापन पर डाली। उसे बारह से दो बजे के बीच टालीगञ्ज स्थित उस दफ्तर में पहुँचना है।

वह फुसफुसाया-दो बजे। करीब दो घण्टे का समय उसके पास है, जो सामने के मैदान में धूप सेवन करते हुए वह आराम से गुजार सकता है। बारह बजे भी अगर वह यहाँ से चले तो एक-डेढ़ घण्टे में निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच सकता है।

सीने को भेद कर अन्तर तक कँपकँपी पैदा कर देने वाली सर्द हवा में पिछले डेढ़ घण्टे तक लगातार चलते रहने से उसका शरीर ठिठुर गया था। कुछ देर आराम किये बिना उसके कदम भी आगे बढ़ना नहीं चाहते। उसने चौरङ्गी का ऐश्वर्य-शाली राजपथ पार किया और पश्चिम की ओर स्थित ऑक्टर-लानी मनूमेंट की ओर बढ़ा।

इस मनूमेंट के दक्षिण और पश्चिम, दूर तक फैला हुआ मैदान है। दूसरे देशों की तरह, यहां के मैदान केवल सुबह-शाम ही आबाद नहीं रहते हैं। क्योंकि यह बेकारों का मुल्क है। एक काफी बड़ी संख्या में काम कर सकने योग्य आदमी यहाँ

बारहों महीने बेकार रहते हैं।

लेकिन दिन में काम-काज के समय, यहां कुछ खास किस्म के लोग आकर जमा हो जाते हैं। दफ्तर के चपरासी, जो किसी काम से बाहर भेजे जाते हैं, बाबू की झिड़कियों से कुछ राहत पाने के लिये, यहां आ बैठते हैं। बेकार आदमी, जो घर से काम-काज की तलाश में निकलते हैं और निराशा से थक कर यहां कुछ देर तक लेट कर आकाश की ओर टकटकी बाँधे ताका करते हैं, जैसे उनकी रोटी-पानी की समस्या का हल इस आकाश पर चित्रित हो। और फिर एक काफी बड़ी संख्या में भीख माँगने वाले—औरत, मर्द और बच्चे। चाय, बीड़ी, सिगरेट और पान वाले।

ऑक्टरलानी मनूमेंट की ओर बढ़ते हुए सहदेव ने सोचा—अगर साठ रुपये मासिक की यह नौकरी उसे मिल जाती है तो रबर के इन फट...फट करने वाले जूतों को वह किसी सेठ के बूढ़े सेवक की तरह हमेशा के लिये छुट्टी दे देगा और एक बाटा की चप्पल खरीद लेगा। जयपुर के हजारों खिड़कियों वाले हवा महल की तरह चलनी बनी इस कमीज को भी वह शान से किसी भिखारी को दे देगा और रङ्गीन डोरिये की एक धारीदार मैल-खोर कमीज खरीद लेगा।

उस लाला की दूकान के सामने फुटपाथ पर सोना छोड़कर हाजी मोहम्मद अली बिल्डिंग के फाटक के भीतर दरवान की चौकी के पास सोया करेगा।

दरवान तीन रुपये मासिक ही तो लेगा। लेकिन वह लाला तो उसकी दुकान के सामने सोने और अपना सामान—एक फटी कम्बल तथा एक चट—रखने के एवज में ही दुकान सम्बन्धी लिखा-पढ़ी का सारा काम करा लेता है और धौंस ऊपर से दिखाता है।

उसका दाहिना पैर गन्दी नाली में चला गया। आँखें भी मन की उड़ान के साथ सुनहले स्वप्न देख रही थीं।

ओह .. .. कैसी दुर्गन्ध है .. .. कैसी संडाध है? नाक फटी जाती है। नाली के कीचड़ में उसका पैर सन गया। नाली के कई घिनौने, बिलबिलाते कीड़े कीचड़ के साथ उसके पैर पर रेंगने लगे। उसका मन घृणा से भर उठा।

नल के पानी से पांव साफ कर, वह ऑक्टरलानी मनूमेंट की एक सीढ़ी पर आ बैठा। बादल अब फट चुके थे और सूर्य के प्रकाश की गर्मी से उसका ठिठुरती देह को कुछ आराम मिला। मनूमेंट की सीढ़ियों के आस-पास कई आदमी छोटे-छोटे झुण्डों में बैठे गप्पें लड़ा रहे थे, ताश खेल रहे थे, हँस रहे थे, गा रहे थे।

नजदीक सीढ़ियों पर बैठे अन्य आदमियों पर उसने सरसरी नज़र डाली। एक पान वाला बैठा पान बना रहा था। तीन-चार आदमी और नीचे ऊपर की सीढ़ियों पर बैठे थे।

सीढ़ियों से थोड़ी दूर हट कर उस गन्दी बदबूदार नाली के सिरे पर ही काले-काले नंग-धड़ङ्ग, ढ़ोल-से फूले बेडौल पेट लिये,

मात्र हड्डी के ढ़ाँचे-से मानव की शक्ल के कुछ बच्चे पड़े थे, खेलते थे और उन्हीं के पास नर-कङ्काल-से कुछ अर्द्ध-नग्न मर्द-औरत बैठे थे।

शायद यह एक परिवार हो। ऐसे ही कई परिवार थोड़े-थोड़े फासले पर नाली के किनारे-किनारे बहुत दूर तक आबाद हैं। इस मनूमेंट के ऊपर से अगर कोई देखे तो गन्दी नाली के बगल में आबाद ये परिवार उसे एक दूसरी गन्दी नाली के रूप में दिखाई पड़ेंगे और ये नर-कङ्काल-से बच्चे, मर्द और औरत नाली में रेंगते, बिलबिलाते कीड़े-से।

सहदेव ने सोचा—"राजनीतिज्ञों की भाषा में कहे जानेवाले शरणार्थी हैं क्या ये ?"

लेकिन शरणार्थी शब्द की उत्पत्ति तो अभी हुई है—सन् १९४७ के बाद।

लेकिन अपने पिताजी के साथ वह करीब दस साल पूर्व यहां आया था तब भी तो उसने इसी प्रकार के लोग प्रायः इसी अवस्था में, इसी स्थान के आस-पास देखे थे। फर्क इतना ही है कि तब ये संख्या में कम थे और अब अधिक।

तब शायद ये भीख माँग कर, दूसरों की दया पर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। लेकिन ये भीख क्यों मांगते हैं ?

कुछ काम क्यों नहीं करते ? किन्तु काम मिलता कहां है ? स्वयं वही कई महीनों से काम की तलाश में दर-दर की ठोकरें खाता रहा है, काम अभी तक तो मिला नहीं।

लेकिन इस तरह दूसरों की दया पर क्यों जीवन निर्वाह करते हैं ये ? क्यों नहीं विरोध करते हैं इस व्यवस्था का, जिसने उन्हें कीड़ों की तरह जीने को मजबूर कर दिया है ? क्यों ये निर्जीव-से बिना किसी प्रतिरोध के घुल-घुल कर धीरे-धीरे नष्ट हो रहे हैं ?

उन्हें उठ कर आदमी की तरह जीने का अपना हक माँगना चाहिये और इस हक माँगने की लड़ाई में ये अगर मर जाते हैं तो मरें। नष्ट हो जाते हैं, हो जांय। .सङ्घर्ष के एक क्षण का जीवन भी शानदार होगा। ऐसा शानदार, जिस पर ऐसी ज़िन्दगी के हजारों वर्ष न्यौछावर किये जा सकते हैं, लुटाये जा सकते हैं।

सहदेव का अन्तर्मन जैसे उसी से प्रश्न कर उठा हो—उसने स्वयं उस दिशा में क्या किया है ? क्या उसकी ज़िन्दगी इन भिखमंगों से बेहतर है ?

दोनों जून पेट भर खाने को स्वयं वह भी तो ऐश्वर्य ही समझता आया है। उसके तन पर भी तो करीब वैसे ही वस्त्र हैं—फटे और गंदे।

उन्हीं की तरह उसके गाल भी तो जबड़े से चिपके रहने का दुराग्रह कर चुके हैं। उसकी आँखें भी तो गड्ढों में धंसी हुई हैं। इन्हीं की तरह पिछले कई महीनों से वह भी धूप, ताप, वर्षा से अरक्षित अवस्था में खुले नीलाम्बर के नीचे ही तो रहता आया है और उसके शरीर पर भी असमय ही—इस पच्चीस वर्ष की

चढ़ती जवानी में—बुढ़ापे ने जबरदस्ता कब्जा कर लिया है। फर्क इतना ही हो सकता है कि उसे कालेज में कुछ वर्ष व्यतीत करने का मौका मिल चुका है और उसने कभी भीख नहीं माँगी।

लेकिन·····लेकिन .....हो सकता है, उसकी माँ भीख माँगने पर मजबूर हो गई हो।

उसकी माँ ? उसकी माँ, जिसके बाल सन की तरह सफेद हो गये हैं। जिसके चेहरे पर की अनगिनत झुर्रियाँ आपस में मिल कर एक अजीब-से नक्शे के रूप में दिखाई देती हैं। जिसका मांस हड्डियों से अलग होकर झूल गया है। उठने-बैठने की शक्ति नहीं। हिम्मत भी भयङ्कर निराशा के थपेड़ों से अब टूट चुकी है। जिसकी आँखों ने, जो आज धुँधली हो गई हैं, करीब साठ जाड़ा, गर्मी और वर्षा की ऋतुएं देखी हैं। इन साठ वर्षों के लम्बे जीवन में एक क्षण भी ऐसा नहीं आया है कि उल्लास से उसका मन नाच उठा हो। कभी भी उसके तन के लिये पूरे वस्त्र नहीं जुट सके हैं। रुखा-सूखा खाना भी दोनों जून उपलब्ध नहीं हो सका है।

यह सब वह सहती आ रही थी, इस आशा से कि शायद उसके दिन भी कभी फिरेंगे। लेकिन अब उन धुंधली आँखों को सब कुछ, चारों तरफ अन्धेरा ही अन्धेरा दिखाई देने लगा है, जो गहन से गहनतर होता जा रहा है और उस गहनतर होते अन्धकार में से एक भयंकर आकृति उभरती नजर आती है, जो पल भर में उसके छोटे से परिवार—दो बेटे और एक बहू को—

निगल जायेगी, आत्मसात् कर लेगी।

"माँ...माँ...मेरी माँ...।" कुछ तन्द्रिल-सी अवस्था में सहदेव के मुँह से अस्फुट स्वर फूट पड़े।

और उसकी पत्नी ? उसकी पत्नी, जिसके गौने की चुनरी अभी मैली नहीं हो पायी है। जिसके हाथों की मेंहदी अभी मिट नहीं पाई है। जिसके लज्जा के भार से नमित नयनों ने अभी तक अपने शौहर के केवल पैर ही देखे हैं और जिसने स्वयं अपना निष्कलङ्क पूर्णचन्द्र-सा मुखड़ा अपने शौहर को ठीक से देखने नहीं दिया है।

उसे याद हैं, जब-जब उसका पति, यह सहदेव, चुपचाप धीरे-धीरे उसके करीब आ, अचानक एक झटके से घूंघट उलट, कोने में टिमटिमाते दीये के मद्धिम प्रकाश में उसके मुखचन्द्र की छवि निहारने की कोशिश करता, तब-तब वह लज्जा के भार से दोहरी हो जाती और दोनों हाथों से अपने मुखड़े को छिपा लेती। तब भी उसका हठीला पति मानता नहीं था। गुदगुदाने लगता था ताकि वाध्य होकर वह हाथ-हटा ले।

लेकिन तभी वह खूब तेजी से दीये की ओर बढ़ती और एक हाथ से मुख छिपाये, दूसरी हथेली जलते हुए दीये की लौ पर रख देती।

दूसरे दिन खाना परसते समय उसके हँसमुख देवर की नजर उसके छाले पड़े हाथ पर पड़ जाती और वह मुस्करा कर पूछ बैठता—"भाभी यह हाथ कैसे जल गया ?"

तब एक क्षण के लिये उसके अधर हिलते जरूर लेकिन कोई शब्द नहीं निकल पाता। केवल एक हास्य की रेखा उसके मुख-मंडल पर खिंच जाती।

किन्तु वे दिन अब न रहे। अब उसके गौने की चुनरी जगह-जगह से फट गई है, व्यवहार के लायक नहीं रह गई है। लाला और दूसरे बड़े आदमियों का दाना पीसते-पीसते उसके हाथों में छाले पड़ जाते हैं, घाव हो जाते हैं। खून! सूर्ख खून बहता है और जम जाता है, उन्हीं प्यारी हथेलियों पर जिन पर चन्द ही दिनों पहले मेंहदी रचायी गई थी। और जो मुख-कमल ठीक से उसका शौहर भी नहीं देख पाया है, उस पर अब सारे गांव के मर्दों की नजर पड़ती है—अच्छी भी, बुरी भी!

क्योंकि वह मजबूर है। गरीब की जोरू जो है। उस गरीब की, जो कई महीनों से उसकी सुध बिसरा कर जाने कहां दूर जा बैठा है। उसके उस हँसमुख देवर को भी यक्ष्मा ने अपने शैतानी पंजे में जकड़ लिया है। फिर भी कभी-कभी अपनी भाभा की आँख बचा कर देवर खेत पर मजदूरी करने चला जाता है। उस दिन उसकी वह स्नेहमयी भाभी काम-काज में अपना मन नहीं लगा पाती। सन्ध्या को दिन ढ़ले, वह अपने देवर को आस-पास के किसी खेत से धीरे धीरे अपना सहारा देकर ले आती है।

घर पहुँचने पर उसकी भाभी स्नेहसिक्त उलाहने के साथ फिर काम पर न जाने की हिदायत करती है।

और वह उसका देवर मुस्करा कर अपनी बंधी मुट्ठी खोल देता है। उसकी हथेली पर बारह आने चमक उठते हैं। और तभी खून से उसका मुँह भर आता है। थूकने के लिये वह उठने की चेष्टा करता है, लेकिन उसका मुँह खुल पड़ता है। चमकते बारह आने खून में सन जाते हैं।

ये बारह आने उस स्नेहमयी भाभी के प्रिय देवर और सहदेव के अपने भाई हरकिशन के पाव भर खून की कीमत है।

खून की कीमत !

सहदेव कलकत्ता आया है—नौकरी की तलाश में। लेकिन आये कई महीने हो गये, उसे नौकरी नहीं मिली। बिना किसी सिलसिले के नौकरी किसे मिली है, जो उसे मिलती। वह अब तक बेकार है। उसने घर पत्र भी नहीं लिखा। आखिर क्या लिखता वह ?

अब वे सब भीख नहीं माँगते होंगे ? क्या उसकी बूढ़ी माँ दाने-दाने के लिये नहीं तड़प रही होगी ? क्या ऐसी परिस्थितियों ने उसकी युवती पत्नी को असमय ही वृद्ध नहीं बना दिया होगा ? क्या उसका वह भाई, हरकिशन अपनी ज़िन्दगी से मायूस हो कर आकाश की ओर टकटकी बांध दवा के अभाव में दम नहां तोड़ रहा होगा ?

तब कहां और कैसे वह इन भिखमंगों से अलग अपनी

स्थिति रखता है ? वह भी तो इन्हीं में से एक है। तब वह स्वयं क्यों नहीं इस व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह की आवाज बुलन्द करता है ? लेकिन..... लेकिन..... कैसे.....

उसकी आँखों के सामने एक दुबला-पतला हाथ आ गया। गहरी नींद से जैसे अचानक झकझोर कर जगा दिया गया हो, अकचका कर देखने लगा।

उसके सामने हाथ फैलाये एक युवती खड़ी थी। उम्र होगी, करीब बीस-पच्चीस वर्ष की। उम्र से तो वह अवश्य ही युवती थी, लेकिन उसका शरीर हड्डियों का ढाँचा-मात्र दिखाई देता था। कहीं मांस नहीं, खून की अरुणिमा नहीं। रूखे बाल। आँखें गढ़े में धंसी हुई। हाथ-पैर सूखी लकड़ी-से। फटे और गन्दे कपड़े। उसका जीवित रहना ही आश्चर्य था।

उसकी गोद में एक छोटा-सा बच्चा था—मादरज़ात नङ्गा। बिलकुल अपनी माँ की तरह ही हड्डियों का ढेर-सा। बच्चा अपनी माँ के सूखे स्तन को मुँह में लेकर दूध की आशा में चूस रहा था। लेकिन फिर निराश हो कर रो पड़ा।

भीख माँगते-माँगते युवती को सिर्फ इतना ही ज्ञान रह गया था कि जो सामने पड़ जाये, उसी के सामने हाथ फैला दे। उस आदमी की सूरत-शकल, कपड़े-लत्तों को देखने की कोई आवश्यकता नहीं, कोई सरोकार नहीं। युवती का हाथ सहदेव की ओर फैला अवश्य था, लेकिन वह स्वयं दूर, मैदान के वृक्षों की ओर टकटकी बांधे जाने क्या देख

रही थी ?

बच्चे के रोने से उसका ध्यान भङ्ग हो गया। बच्चे पर उसने एक दृष्टि डाली। रोने का कारण समझा और फिर अपने फैले हाथ के सामने बैठे बाबू को उसने एक आश्चर्य और कौतूहल की दृष्टि से देखा। आश्चर्य और कौतूहल इसलिये कि इतनी देर तक अब कोई बाबू उसे अपने पास खड़ा नहीं होने देता था। या तो उसे कुछ मिल जाता, या फिर दुत्कार कर भगा दी जाता।

यह कैसा बाबू है ?

लेकिन सामने बैठे सहदेव को देख कर उस युवती ने तुरन्त अपना हाथ समेट लिया। यह तो करीब-करीब उसी की श्रेणी का आदमी है। फिर इससे क्या माँगा जा सकता है ? वह हट कर कोने में बैठे दो बाबुओं की ओर चल दी।

सहदेव समझ गया कि यह भीख माँगने वाली भी उसकी स्थिति को भाँप गई है। जान गई है कि वह कुछ नहीं दे सकेगा। एक भीख माँगने वाली भी उसकी असमर्थता को समझती है, यह महसूस कर क्षण भर के लिये वह अपने आप पर झल्ला उठा।

"यह बच्चा किसका है ?"— कोने में बैठे दो व्यक्तियों में से एक ने उस युवती से पूछा।

सहदेव उस ओर देखने लगा। उस युवती ने अपना हाथ फैलाये रखा, लेकिन उत्तर कुछ नहीं दिया। वह अभी भी दूर

मैदान के वृक्षों की ओर अपलक क्यों कुछ देख रही थी। शायद सोचती हो—क्या जवाब दे ?

बगल में बैठे दूसरे व्यक्ति ने युवती की ओर इङ्गित कर कहा—

"बता तो रही है बेचारी कि सामने के वृक्षों में से किसी एक के नीचे, किसी का रुपया, आठ आना इस बच्चे का बाप बना था ?"

और दोनों खिलखिला कर हँस पड़े।

वह औरत वहां से जा चुकी थी।

सहदेव भी खड़ा हो गया। समय हो गया था। वह चल पड़ा—अपने गन्तव्य पथ पर। चलते-चलते, बार-बार, वह युवती उसकी आँखों के सामने उभर आती। उस युवती के रूप में उसे अपनी पत्ना दीख पड़ती।

उसकी पत्नी !

हो सकता है, अपने पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिये.....।

हो सकता है अपने देवर की दवा के लिये किसी वृक्ष के नीचे उसे..... रुपया..... आठ आना..... और.....।

आगे वह नहीं सोच पाया। एक अव्यक्त अपमान और क्रोध की ज्वाला में उसका रोम रोम जल उठा। तभी उन व्यक्तियों की क्रूर और घिनौनी हँसी उसके कानों में गूंज उठी। उसके कान के पर्दे फटने लगे। उसने कानों में अङ्गुलियाँ डाल ली और अपनी गति तेज कर दी। तेज·····और.....तेज...।

रहस्यमयी

आज फिर वह उस जगह मिली। साड़ी का रंग हरा चमकीला था और सैंडल भी हरी ही थी। हरा बैग कन्धे से कमर तक झूलता हुआ। उम्र यही कोई पच्चीस के आस-पास। बागान के पश्चिमी-उत्तरी कोने पर पानवाले की दूकान के पास थोड़ी-सी जगह है। यहीं पर बस स्टैंड है। पाँच-सात व्यक्ति इस जगह हमेशा खड़े रहते हैं। शाम को दफ्तर से लौटते हुए मुझे भी उधर से गुजरना पड़ता है। गत सप्ताह से मैं उसे रोज वहीं देखता। सोच

लेता हूं – शायद बस के इन्तजार में खड़ी होगी।

प्रतिदिन नियत समय पर मैं उसे वहाँ देखता। एक दिन जिज्ञासावश मैं अनावश्यक ही कुछ देर के लिये उससे थोड़ी दूर हट कर खड़ा हो गया। वह निर्निमेष दृष्टि से एक ओर शून्य को देख रही थी। फिर अचानक होश आने का-सा भाव प्रदर्शित करते हुए उसने अपना घड़ी-वाला हाथ ऊपर उठाया। तब कुछ बड़बड़ाती सी—जैसे किसी का इन्तजार कर के थक गयी हो—उत्तर की ओर चित्तरञ्जन एवेन्यू पर चल पड़ी। तीन-चार सज्जन, जो बस-स्टैंड पर मेरे पास ही खड़े थे, उसके अगल-बगल, आगे-पीछे थे। मैंने घर की राह ली।

लेटने पर जैसे बरबस कोई मुझे उसके सम्बन्ध में सोचने को मजबूर कर रहा हो। अगल-बगल के कमरों के कोलाहलपूर्ण वातावरण से दूर मेरा मस्तिष्क उसे ही केन्द्रबिन्दु बना कर सोचने लगा—"क्या वह वेश्या थी?" नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।" मेरी आंखों में उसका सौम्य, गम्भीर चेहरा उतर आया। सोचा—शायद अपने प्रेमी का इन्तजार कर रही हो, जिससे घर पर अपने गुरुजनों की उपस्थिति में न मिल सकता हो। शायद .....। इस तरह कल्प-विकल्प में मुझे रात भर ठीक से नींद नहीं आयी।

गाँव से कुछ मेहमानों के आ जाने के कारण फिर दो दिनों तक उसे वहीं रोज पाकर भी अपने जिज्ञासु मन को रोक रखना पड़ा। लेकिन तीसरे दिन मैं अपनी उत्सुकता को नहीं दबा

सका। समय से कुछ पूर्व ही रंग-स्थल पर आ जमा।

वह आई।

ठीक समय पर। जैसे घड़ी देख कर चलती हो। आज वह मेरे नजदीक आकर खड़ी हो गई। दूसरों की नजर बचाकर मैं कभी-कभी उसके चेहरे पर नजर डाल लेता और उसके भावों को पढ़ने की कोशिश करता। मुझे कहीं भी—कुछ भी—वेश्याओं के गुण—अवगुण नहीं दिखाई पड़े।

साड़ी बार-बार उसके सिर से फिसल कर कंधों से होती नीचे आ जाती थी। वह बार-बार उसे उठा कर यथा-स्थान कर लेती थी, पर साड़ी ने जैसे सिर पर न रहने की कसम खाली हो। वह फिसलती ही रही।

कुछ देर बाद झुंझलाहट का प्रदर्शन करते हुए उसने साड़ी से हार मान ली। उसकी गोरी-गोरी सुराही-सी गर्दन और सुन्दर पीठ पर आसानी से अब ललचायी आँखें पड़ सकती थीं।

मुझे लगा; जैसे जान-बूझ कर उसने अङ्ग-प्रदर्शन के लिये ही साड़ी सिर से उड़ा दी हो। पर उसके चेहरे की गम्भीरता ने इस विचार को जमने नहीं दिया।

थोड़ी देर बाद नित्य की भाँति घड़ीवाला हाथ ऊपर उठा, वह बड़बड़ायी और उसी चितरञ्जन एवेन्यू पर चल पड़ी। बस-स्टैंड से उसके पीछे चलने वाले चार सज्जनों में आज मैं भी एक था।

पहली मोड़ पर एक सज्जन उसके बिलकुल करीब गये। दोनों के होठों को हिलते हुये मैंने देखा। वह आगे बढ़ रही थी और वे सज्जन मोड़ से दूसरी ओर जाते दिखायी दिये

शायद सौदा.....।

शायद.....।

इसी तरह कुछ देर बाद दूसरे सज्जन बढ़े, होंठ हिले और दूसरी तरफ चल दिये। तीसरे महाशय भी इसी तरह चल दिये।

अब मेरा नम्बर था।

लेकिन इस कला से पूर्णतया अनभिज्ञ होने के कारण मेरी हिम्मत उसके पास जाकर बात करने की नहीं पड़ रही थी। एक बार सोचा, लौट चलूँ। लेकिन मेरा जिज्ञासु मन न माना। थोड़े फासले पर मैं उसका पीछा कर रहा था। ट्राम-लाइन पर पहुँच कर वह खुद ही रुक गई। मैं भी थोड़ी दूर पर खड़ा हो गया। मैंने उसकी तरफ देखा। ऐसा लगा जैसे नजदीक आने का उसने इशारा किया हो। लेकिन न विश्वास हुआ और न हिम्मत ही।

मैं खड़ा रहा।

वह स्वयं मेरे नजदीक आई और जैसे पूर्व परिचित हों, दोनों हाथ जोड़ कर कहा—

"नमस्ते।"

इस अप्रत्याशित घटना ने मुझे हक्का-बक्का बना दिया। नमस्ते

का उत्तर भी न दे सका। मुस्कराने का उपक्रम करते हुए वही बोली—

"बहुत दिनों बाद दर्शन हुए, कहीं बाहर गए थे क्या?"

"....."

हमलोग एक ओर को चल पड़े।

थोड़ा एकान्त-सा पा कर उसने कहा—"किधर चलें?" और फिर धीरे से स्वयं ही बोली—"अब आज आप जो कुछ भी दीजियेगा, मैं सहर्ष ले लूंगी। चलिये!"

अपने मनोविज्ञान के अध्ययन पर मुझे बड़ा अभिमान था। उसे यों धक्का लगते देख बड़ा दुख हुआ।

मैंने पूछा—"लेकिन कहाँ चलें?"

उसका उत्तर था—"जहां भी मर्जी हो।"

मैंने कुछ सोचते हुए कहा—"मैं कहां ले चलूँ? आप ही ले चलिये।" उत्तर में उसके चेहरे पर छाई हुई घबराहट मुझ से छिप न सकी।

संयत होकर उसने कहा—"सब तो मुझे अपने साथ ही ले जाते हैं। मेरे पास तो कोई जगह नहीं।"

इस पर मुझे जाने का उपक्रम करते देख, उसने कहा—"आप नये मालूम होते हैं। ख़ैर; चलिये। पर कोई पूछे तो मेरे गांव का रिश्तेदार बनना पड़ेगा।"

मैंने स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया।

रास्ते में उसने मेरे पेशे, तनख़्वाह और इसी से सम्बन्धित

कई प्रश्न किये। जबाब में मुझे कुछ न कुछ बोलना ही पड़ा लेकिन मस्तिष्क मेरे साथ उत्तर देने में नहीं था।

कुछ दूर जाने पर उसने दाहिनी तरफ एक तङ्ग, गन्दी-सी गली में प्रवेश किया। गली में प्रवेश करने से पूर्व ही बैग छिपा लिया था। साड़ी सिर पर आ गई थी। इस बार साड़ी ने मचल कर नीचे जाने की कोशिश नहीं की।

एक छोटे और अन्धकूप-से मकान में हम घुसे। दो कमरे सामने ही दिखायी पड़ रहे थे। एक में किरासिन तेल की ढिबरी टिमटिमा रही थी।

पहले कमरे को पार कर वह दूसरे कमरे के दरवाजे पर खड़ी हो गई। पुकारा—मौसी! एक हाथ के आकार का हड्डी का ढांचा-सा हिलता दिखाई दिया। लेकिन उत्तर कुछ न मिला। वह अन्दर गई और मुझे भी पीछे आने का इशारा किया। मैं जादू से खिचा हुआ-सा उसके पीछे अन्दर गया। टूटी चटाई पर लेटी एक वृद्धा को उसने झकझोरा, उठाने का प्रयास किया। एक काँपती हुई आवाज आई—"आज बड़ी जल्दी आ गई ज्योति!"

वृद्धावस्था के कारण आँख की रोशनी शायद नहीं थी। इसलिए मुझे वह नहीं देख पायी। मेरे साथ की रहस्यमयी ने केवल 'हां' कहा और उसे उठा कर सामने के फटे पर्दे के पीछे लिटा आयी। मुझे उसने संकोच के साथ उसी चटाई पर बैठने के लिये कहा।

मैं बैठ गया।

उसने वह साड़ी उतार दी और एक मैली-सी साड़ी पहन ली। आकर पास ही चटाई पर बैठ गई।

मेरी उत्सुकता, जिज्ञासा अब खत्म हो चुकी थी।

मा.....मा·····आ.....!

एक बच्चे के करुण-क्रदन से मैं और वह दोनों ही चौंक पड़े। रुदन की तीव्र होती गति के साथ-साथ वह गम्भीर होती गई। और कुछ क्षणों में पागल की भाँति उठी और पर्दे को हटाती हुई बुढ़िया के पास चिथड़े में लिपटे एक बच्चे को गोद में उठा लिया। फिर पागल की तरह कई चुम्बन उस बच्चे के मुँह पर अङ्कित कर दिये। मैं भी उठ कर उसके नजदीक चला गया। पास एक टूटी-सी आलमारी की तरफ मेरा ध्यान गया। दवाइयों की खाली बोतलें रखी थीं। सारा रहस्य खुल गया। जिज्ञासा का स्थान अब कष्ट और दुख ने ले लिया।

कुछ संयत होने पर उसे मेरी उपस्थिति का ज्ञान हुआ। मेरी दृष्टि के मूक प्रश्न के उत्तर में उसने कहा—

"क्या करू बाबू! पिछली लड़ाई ने मेरा सुहाग छीन लिया। कुछ दिनों घर की चीजें बेच कर गुज़ारा किया। सुहाग की कीमत स्वरूप सरकार से इस मंहगी में भी केवल सात रुपये दस आने प्रति माह मिलते हैं। इस तरह कब तक चलता? अन्त में... .....।

गला रूँध गया।

फफक फफक कर रोने लगी।

मैं चुप था। सान्त्वना के कुछ शब्द कोशिश करने पर भी मैं बाहर न निकाल सका।

उसने कुछ देर ठहर कर पुनः कहना शुरू किया—"मौसी है और यह बच्चा, जिसका पालन मुझे करना पड़ता है। बच्चा बीमार है। इलाज के लिये काफी रुपयों की आवश्यकता है। पास के एक होमियोपैथिक डाक्टर का इलाज चल रहा है। लेकिन हालत बद-से बदतर होती जा रही है। और.....और.....।"

केवल हड्डियों का ढांचा-सा एक बच्चा उसने चिथड़ों से बाहर कर मेरे सामने रख दिया। मेरा चेतना-विहीन शरीर वहाँ था और मैं उस कमरे, मकान, शहर, सभी व्यवधानों से दूर युद्ध देवता का ताण्डव नृत्य देख रहा था। उसके स्वर में स्वर मिला कर माथे का सिन्दुर पुँछ रहा था। सुहाग लुट रहे थे। लज-वन्तियाँ बीच बाजार बिक रही थीं। ज्योति का कङ्कालवत् बच्चा रो रहा था और ज्योति अन्धेरे का व्यापार कर रही थी····· और युद्ध के ढोल ढमाढम बज रहे थे!

सिर नीचा किये-ही-किये मैंने जेब में हाथ डाला। जो कुछ था, उस के चरणों में रख क़र निस्तब्ध, निश्शब्द बाहर आ गया। हृदय में एक आग-सी लगी हुई थी, शब्द झुलस कर रह गये थे।

चिराग़ जलेगा

डाक्टर राय के आने में दो घण्टे की देर थी।

पांच साल के शिवकिशन को गोद में लिये बाबू जानकीनाथ बेञ्चों पर बैठे मरीजों की एक लम्बी कतार के अन्त में आकर बैठ गये। कन्धे पर पड़े, गन्दे तौलिये से उन्होंने शिवकिशन के जिस्म को ढ़क कर अपनी गोद में लिटा लिया। अपने शरीर और कपड़ों की तरह ही हुए जीर्ण-

जार्ण और कई मुँह हुए जूतों से, ठण्ड से सिकुड़े, कीचड़ में सने, पैरों को आराम देने के लिये बाहर निकाल लिया। कानों में बंधे ऐनक के डोरे को खोला। एहतियात से उसे कमीज़ की जेब में रख लिया। कमीज़ का सारा कपड़ा गल-सड़ गया था। कई जगह छोटे छोटे छेद भी हो गये थे। उस मटमैले रंग की कमीज के छेदों से भीतर की गाढ़े का सादी बनियान ऐसी दीखती थी, जैसे शरीर पर कोढ़ के दाग हों।

बाबू जानकीनाथ बड़े चञ्चल दीख पड़ते थे। हाथ की काँपती अङ्गुलियाँ उनके अन्तर की हलचल का पता बता रही थीं। गहन चिन्ता जन्य विषाद की रेखाएँ उनके माथे पर स्पष्ट उभर आई थीं। वह गहरी श्वांस भीतर की ओर खींचते थे। लगता था ; अन्तर में धाँय-धाँय जलती ज्वाला को शान्त करने का जैसे प्रयास करते हों। सूखे कुम्हड़े की तरह चुचके मुँह और सिर का बोझा भी उनकी गर्दन सम्भाल नहीं पा रही थी—बार बार इधर उधर झूल पड़ती थी। उन्होंने हाथ की काँपती अङ्गुलियाँ सिर पर रख लीं। बेञ्च के पीछे के खम्भे के सहारे अपनी गर्दन टिका दी। मन में उठते विचारों के झंझा से त्राण पाने के लिये, वह अपना ध्यान दूसरी ओर बँटाने का प्रयास करने लगे।

एक सरसरी नजर से वह आस-पास बैठे मरीजों और उनके साथ आये व्यक्तियों को देख गए। कोई ऊँघ रहा था। कोई खांस रहा था। कोई अपने जीवन से निराश, हताश, खोई

आँखों से एक टक शून्य की ओर देख रहा था। जैसे सारा समाज, समाज का अङ्ग-अङ्ग गल गया हो, सड़ गया हो। गम, उदासी और मायूसी का साम्राज्य स्थापित था।

इस अलस, उदास, मायूस वातावरण से तटस्थ होने की गरज से बाबू जानकीनाथ ने जेब से एक रसीद निकाली, जो अभी-अभी उन्होंने इस ख़ैराती सफ़ाखाने के कैशियर से प्राप्त की थी। वह उसे उलट-पलट कर देखने लगे। दूर की दृष्टि उनकी खराब हो गई थी, किन्तु चश्मा के बिना भी, नजदीक का काम—लिखा-पढ़ी-कर लेते थे।

सो अनजाने ही बिना मस्तिष्क की आज्ञा के, बिना मन के योग के, उनकी आँखें रसीद पर छपे और लिखे शब्द पढ़ने लगीं —

... .. सोसाइटी··· चेरिटेबल हास्पिटल····· पता····· आठ आने... . । और..... ? और इसके आगे भी पढ़ने को बहुत कुछ था। लेकिन आठ आने तक आकर उनकी दृष्टि को जैसे ब्रेक लग गया। वहीं जैसे स्थिर होना चाहती हो। लेकिन बाबू जानकीनाथ जबरन उसे वहां से हटा कर फिर शुरू से पढ़ने लगे। एक बार। दो बार। किन्तु आठ आने की रकम के आगे वह नहीं पढ़ पाए।

नहीं पढ़ पाए इसलिये कि आठ आने की रकम पर नजर पड़ते ही उनके दिमाग में बिजली का करेंट-सा छू जाता। एड़ी से चोटी तक सिहरन व्याप्त हो जाती।

इसका कारण था। शिवकिशन की माँ ने कहीं से सुन लिया था कि ख़ैराती अस्पताल के डॉ० राय के हाथ में बड़ा जस है। मरीज रोता जाता है और हँसता आता है। उसने बाबू जानकीनाथ से शिवकिशन को डॉ० राय से दिखाने की जिद्द की।

आज से एक सप्ताह पहले इसी दिन बाबू जानकीनाथ शिवकिशन को लेकर आये थे। लेकिन इस आठ आने की रसीद बिना उन्हें उल्टे पाँव लौट जाना पड़ा था। कैशियर ने डा० राय को दिखाने का पुर्ज़ा बनाने के लिये जब आठ आने माँगे थे तो बाबू जानकीनाथ ने डरते-डरते कहा था—"पैसे तो मैं नहीं लाया।" तब कैशियर ने बताया था— इस अस्पताल में और भी कई दर्जन डाक्टर हैं। किसी को कंसल्ट कर लीजिये। पैसे नहीं लगेंगे।

फिर थोड़ी देर ठहर कर आठ आने लेने का औचित्य समझाते हुए कैशियर ने कहा था—"यह बहुत बड़े डाक्टर हैं। चौंसठ रुपये फीस लेते हैं। यहां सप्ताह में क घण्टा मुफ्त देते हैं। इसलिये सब इन्हीं को दिखाना चाहते हैं। नतीजा यह होता है कि जरूरतमन्द को मौका ही नहीं मिलता। इसलिये डॉ० राय को दिखाने लिये आठ आने का पुर्ज़ा बनाया जाता है, ताकि केवल जरूरतमन्द ही इस व्यवस्था से लाभ

उठाएं।

बाबू जानकीनाथ कहना तो यह चाहते थे कि पैसे-रुपयों की छड़ी से हर चीज, हर आवश्यकता नापने का, अर्थशास्त्र का यह सिद्धांत,हमेशा मोजूँ साबित नहीं होता। यह तो केवल थ्योरी की चीज है। केवल थ्योरी की।

लेकिन जबान पर आई बात उन्होंने रोक ली और बोले—

"ठीक है, मैं पैसे लेकर दूसरे दिन आ जाऊँगा।"

उस दिन उनके पास आठ आने नहीं थे। इसलिये लौट गए। और उसी दिन क्या? उनकी जेब में तो आठ आने कभी नहीं रहते, रह ही नहीं सकते। केवल उन्हीं के पास क्या? किसी भी शरीफ और ईमानदार आदमी की जेब में हमेशा पैसे नहीं रह सकते। फिर बाबू जानकीनाथ की तो बात ही अलग थी। तीस दिनों की लगातार कमर तोड़ क्लर्की करने के बाद उन्हें पचहत्तर रुपये मिलते थे। ऐसी मँहगी के समय में इस छोटी-सी रकम से, स्वयं जानकीनाथ, पत्नी, दो लड़कियां और एक यह शिवकिशन, सब मिला कर पाँच प्राणियों के शरीर का जिन्दा रखने का प्रयत्न किया जाता। पन्द्रह तारीख तक दो-दो रोटियाँ प्रत्येक के हिस्से में आ जातीं। शिवकिशन के लिये आधा-आधा पाव दूध भी आता। रात में लालटेन भी जलती। लेकिन इसके बाद रोटियों की संख्या और लालटेन के जलने के घण्टों में क्रमशः ह्रास होने लगता।

तीस तारीख आते-आते तो चूल्हा ठण्डा रहने लगता और लालटेन की रोशनी के अभाव में, विज्ञान की प्रगति के बावजूद आदिम युग का तरह, केवल सूर्य के प्रकाश पर ही निर्भर रहना शुरू हो जाता।

यह तो रोज की बात थी। हमेशा ऐसा ही होता आया है। इसलिए जानकीनाथ और उनके परिवार के सब सदस्य इसके अभ्यस्त हो चुके हैं। इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि परिवर्तन या अपनी अवस्था में सुधार होने या करने की कल्पना भी उनके मस्तिष्क में आश्रय नहीं पाती। इस तरह भी ज़िन्दगी के बाकी दिन कट जाते तो भी जानकीनाथ गनीमत हा समझते। लेकिन उनकी लीक पर चर्र-मर्र चलती बैल गाड़ी के सामने एक बड़ा-सा पत्थर आ गया। गाड़ी टकरा कर उलटते-उलटते बची। सारे परिवार का जीवन झनझना उठा। अस्त-व्यस्त हो गया। शान्त तालाब के जल में जैसे किसी ने पत्थर डाल दिया हो। रूपा—जानकीनाथ की अठारह वर्ष की बेटी—कहीं चली गई। जाने माँ-बाप को अपनी चिन्ता से मुक्ति देने गङ्गा मैया की शरण में चली गई·····। जाने किसी से प्यार.....।

दो दिन तक तो कोठरी बन्द कर के सब भीतर पड़े रहे। लेकिन ऐसी बात आखिर कितने दिनों तक छिपाई जा सकती थी। मकान के, मोहले के सभी लोग जान गये। जानकीनाथ को सुना कर लोग ऐसी बात करते कि उनका बूढ़ा, शान्त खून भी खौलने लगता। लेकिन कोई उपाय नहीं था। वह कान बन्द

कर लेते और वहां से भाग खड़े होते। सिर नीचा कर, लोगों की नज़र बचा कर वह बाहर आते, जाते। किन्तु सिर नीचा किये बाहर निकलने पर भी उन्हें लगता कि परिचित-अपरिचित सभी की निगाहें उन्हें ही घूर रही हैं, व्यङ्ग से मुस्करा रही हैं। और वह उन घूरती निगाहों के बोझ से दबे जा रहे हैं। फँसे जा रहे हैं। पैर जैसे मन मन भर के हो जाते। जैसे धरती से चिपक जाना चाहते.....और·····

डा० राय के आने की चहल-पहल ने उनका ध्यान भंग कर दिया। क्रमानुसार एक-एक आदमी का नाम पुकारा जाने लगा। ठीक वैसे ही जैसे कचहरी में चपरासी मुद्दई और मुद्दालेह को पुकारता है। जानकीनाथ का भी नम्बर आया। शिवकिशन को देख लेनेके बाद डा० राय ने पूछा—

"कितना खोर्चा कोरने सकेगा?"

"साहब! खर्च के लिये तो मेरे पास कुछ भी नहीं है।" जानकीनाथ बड़ी दीनता से बोले।

दरअसल आज वह घर में रखे अन्तिम आठ आने ले आये थे। आज चूल्हा भी नहीं जलेगा। शिवकिशन के लिये आज दूध भी नहीं आयेगा। लालटेन भी आज नहीं ज़लेगी।

"तब काए को इधिर लाया? दूसरा डाक्टर से मुफोत का मेडीसिन लिखा कर निए जाओ।" डा० राय ने जाने का संकेत किया।

फिर अपने सहकारी की ओर मुखातिब होकर डा० राय

बोले—"ए बाँचबे ना। विल डाइ विदिन फाटी टु फाटीऐट अवर्स। नॉट मोर।"

जानकीनाथ के कपड़े-लत्ते और बोलने के ढंग से डा० राय ने समझा होगा कि यह बिल्कुल अंगरेजी नहीं जानते। लेकिन जानकीनाथ बहुत पुराने मैट्रिकुलेट थे। डा० की बात ने उनके हाथ-पाँव ठण्डे कर दिये। शिवकिशन को गोद में लिये किसी कदर बाहर आकर वह पहले वाली बेंच पर बैठ गये। उनका कलेजा जैसे फटा जा रहा हो। उनके दिमाग में जैसे कोई हथौड़े से चोट कर रहा हो। उनकी आँखों की झील में जैसे सैलाब आ गया हो। चारों ओर अन्धेरा छा गया हो। उन्हें कहीं कोई प्रकाश की किरण नजर नहीं आती थी। करीब एक घण्टे तक वह उसी अवस्था में वहीं बैठे रहे।

अचानक जाने उनमें कैसी शक्ति आ गई। वह एक झटके के साथ उठे। तेजी से घर की ओर चल दिये। आँखों की झीलें शायद सूख गई थीं। आँखें फटी-फटी-सी खोई-खोई-सी जाने कैसी हो गई थीं। घर में दाखिल होते ही पत्नी ने शिवकिशन को अपनी गोद में लेते हुए पूछा—"क्या बताया, डाक्टर ने?"

जानकीनाथ की विकृत हुई आँखों में हिंस्र-पशु की-सी चमक आ गई। अस्वाभाविक रूप में गूँजती आवाज में बोले—

"रूपा चली गई। शिवकिशन भी थोड़े से घण्टों में चला जायेगा। रोटियों में हिस्सा बंटाने वाले दो मुँह कम हो जायेंगे। फिर हम आराम से भर पेट रोटी खायेंगे। भरपेट.....

रोटी । क्यों ? ठीक है न ? ठीक है, न ? ठीक नहीं है ।"

उनकी पत्नी ने कोई उत्तर तो नहीं दिया । किन्तु उसने शिवकिशन को अपनी छाती से चिपका लिया, जोर से । और जोर से, जैसे उसे वह अपने भीतर छिपा कर रख लेना चाहती हो ताकि शिवकिशन को कोई उससे छीन न सके—कोई भी, मृत्यु भी ।

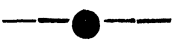

योजना

रामू ने मालिक की गद्दी के सामने रिक्शा रोक दिया। भयानक सर्दी की रात में भी उसका सारा शरीर पसीने से तरबतर हो गया था। माथे पर से होती हुई आँखों की पलकों पर छायी पसीने की बूंदों को उसने बाँये हाथ से पोंछ डाला। फिर एक गहरी साँस खींच कर दिन भर घोड़े की तरह किये कठिन श्रम से चूर अपनी देह को जैसे उसने मौन आश्वासन दिया हो—

बस, अब सात घण्टे आराम

ही आराम है !

रामू गद्दी के सामने की, अपनी ज़िन्दगी जैसी ही समतल किन्तु कङ्करीली जमीन पर बैठ गया। टेंट से एक जालीदार छोटी-सी थैली निकाली। जाली में से पैसे, एकन्नियाँ, दुअन्नियाँ, चवन्नियाँ झाँकने लगीं। रामू ने थैली का मुँह खोल कर अपने हाथ पर उलट लिया। पहली बार गिनने पर कुल दो रुपये सवा दस आने हुए। दूसरी वार गिनने पर दो रुपये सवा सात आने ही हुए। कई महीनों से उसे कुछ कम दिखायी देने लगा है। इसलिये अपने मन के सन्तोष के लिये उसे कई बार गिनना पड़ता है। लेकिन दूसरी बार गिनने पर पैसे अगर पहले से कम हो जाते हैं तो फिर वह नहीं गिनता। क्या जाने और कम हो जांय ! आज कुल दो रुपये सवा सात आने की कमाई हुई। इसमें से एक रुपया रिक्शा के किराये का मालिक की गद्दी में जमा कर देना है।

यह एक रुपया किराया देते समह हमेशा ही, रोज ही उसे लगता ; जैसे वह अपने शरीर का एक टुकड़ा गोश्त खुद ही काट कर दे रहा हो, मानो अपने बेटे मोहन के हिस्से की दो रोटियों में से एक स्वयं उठा कर दे रहा हो और वह भूख से बिलबिला रहा हो, अपनी बीमार पत्नी की दवाई के पैसे वह ठर्रा पीने में उड़ा रहा हो, या फिर जवानी की सीढ़ियाँ लाँघती अपनी बेटा राजो के व्याह के लिये जोड़ी रकम वह स्वयं ही लुटा रहा हो। ऐसे मौके पर उसके सीने में बायीं तरफ दर्द होने लगता। उसकी आँखें गीली हो जातीं और उन गीली आँखा को वह आकाश की

ओर गड़ा देता। उसके चेहरे की भाव-भङ्गिमा ऐसी हो जाती, जैसे ऊपर आकाश में कोई बैठा हो और जिससे वह फ़रियाद कर रहा हो, या शायद माँगता हो कि उसे भी एक अपना रिक्शा मिल जाय, अपना, बिलकुल अपना ! अपना रिक्शा, उसके जीवन की सबसे बड़ी साध है, कामना है। और फिर उस अपने रिक्शे में वह दिन भर जुता रहे, खूब मिहनत करे—पहले से ज्यादा ! शहर से करीब एक मील दूर, सेठों और 'भद्रजनों' के मकानों से अलग, 'छोटे लोगों' की बस्ती में बाँस की खपचियों से बनी और मिट्टी से पुती उसकी झोपड़ी के सामने उसका रिक्शा लगा रहे ; ठीक उसी तरह जैसे उसके गाँव के जमींदार बाबू की विशाल कोठी के सामने, मस्त, झूमता हाथी बँधा रहता था।

काश, ऐसा हो सकता ! वह रोज फ़रियाद करता। लेकिन, इस तरह कब, किसे मिला है ? जो उसे मिलता। उसे बौल पर जुआ रखे जाने के समय से, रात दस बजे तक जानवर की तरह रिक्शे में जुते रहना पड़ता। दोपहर में, केवल दस मिनट वह अपने पेट की ज्वाला शांत करने में खर्च करता। वह सड़क के एक किनारे बैठ कर, सत्तू के बड़े बड़े गोलोंको हरीमिर्च और हाथ के अँगूठे के सहारे, अपने सूखे गले के नीचे उतार लेता। फिर रात के दस बजे तक वह रिक्शा में जुता रहता। आँधी, तूफान, पानी, सर्दी, गर्मी कुछ भी हो, उसे रोज इसी तरह, जानवर की भाँति श्रम करना पड़ता।

"रामू काका । ओ···रामू काका ।" ननकू ने रामू के कान के पास अपना मुँह ले जाकर कहा—"किस ध्यान में डूबे हो ? सुनते ही नहीं !"

ननकू के पुकारने से विचारों में डूबा रामू चौंक पड़ा। उसकी हथेली पर बिखरी रेजगारी जमीन पर गिर पड़ी।

ननकू ने सावधानी से रेजगारी उठाकर रामू के हाथ में रख दी।

"कुछ तो नहीं ! बस, ऐसे ही, गिरस्ती की झंझट लगी ही रहती है। तुम तो आज जल्दी आ गये। रिक्शा जमा करा दिया ?"

"आज तो जमा करा दिया काका।" ननकू ने कुछ गम्भीर होकर कहा—"पर काका, कल की राम जाने।"

"अरे, ऐसा क्यों, ननकू ? क्या बात है ?" ननकू की ओर सरकते हुए रामू ने पूछा।

"कल से रिक्शा का किराया दस रुपया हो जायेगा। काका ! मालिक आज खुद ही गद्दी पर बैठे हैं। कहते हैं—'सरकार ने 'टिकस' बढ़ा दिया है।' पर, काका ! एक रुपया देना तो अपने से सपरता नहीं, डेढ़ कहाँ से देंगे ?" ननकू ने कहा।

रामू ने सोचते हुए, धीरे-धीरे कहा—"यह तो ठीक है ननकू ! पर, मालिक भी तो हमारी मज़बूरी से वाकिफ हैं। चलो, उन्हीं से विनती करें।"

निराशा भरी एक गहरी साँस खींच कर ननकू बोला—

"हमलोग कई जने गये रहे काका ! मालिक कहने लगे—'रिक्शा चलाओगे तो डेढ़ रुपया देना ही पड़ेगा।"

"यह तो बड़ी मुसीबत आ गई, ननकू ! अब कैसे, क्या होगा ?" रामू की आवाज़ में मायूसी मुखर हो उठी ।

"अपने अड्डे के तीन सौ के तीन सौ आदमी, किराया बढ़ाने के विरोध में, कल से हड़ताल करेंगे।" ननकू ने बहुत धीरे से कहा—"शहर के दूसरे रिक्शा वालों ने भी यही निश्चय किया है। यहाँ केवल तुम्हीं से पूछना बाकी था।"

रामू सोचते हुए बहुत धीमी आवाज में बोला—"दिन भर जानवरों की तरह खटने पर तो एक जून भी रूखी-सूखी नहीं मिल पाती। हड़ताल करने से तो भूखों ही मरना पड़ेगा। मालिकसे ही आरजू-मिन्नत कर के काम निकालना ठीक है। मैं मालिक के पास जाता हूँ।"

गद्दी में मालिक और मुनीम के अलावा, कई आदमी बैठे थे। कल की सम्भावित हड़ताल को असफल करने के विषय पर गम्भीर मन्त्रणा चल रही थी। मालिक की बगल में मसनद के सहारे अधलेटे-से, खद्दर का चूड़ीदार पाजामा और सफेद, स्वच्छ खादी की अचकन पहने, एक सज्जन बैठे थे। बेडौल पेट के ऊपर के बटन खुले हुए थे, ताकि साँस लेने में दिक्कत न हो। अपने ढोल-से पेट पर हाथ फेरते हुए वह

मालिक से धीरे-धीरे कुछ कह रहे थे और मालिक ध्यान से उनकी बातें सुन रहे थे तथा बीच-बीच में अपना सिर हिलाते जाते थ। रामू को गद्दी में आते देख, मालिक उनके कान में कुछ फुसफुसाये और तब रामू की ओर मुखातिब होकर बोले—"तुम्हारा ही इन्तज़ार था, रामू! बहुत देर कर दी तुमने। अच्छे तो हो?"

रामू ने हाथ जोड़ कर नमस्ते की। मुनीम के पास रिक्शा का किराया जमा कराते हुए उसने कहा—"सब हजूर की दया है। सेवक हाज़िर है।"

आत्मीयता जताते हुए सेठ जी ने कहा—"इधर आ जाओ, रामू! तुम से थोड़ी बात करनी है।"

रामू आकर मोटे गद्दे के किनारे के पास बिछी चटाई पर बैठ गया। बोला—"क्या हुकुम है, माई-बाप?"

"गद्दे पर इतमीनान से बैठ जाओ। भगवान का लिखा सब अपना-अपना काम करते हैं। वैसे हम में और तुम में कोई फर्क थोड़े ही है।" सेठ जी ने रामू का हाथ पकड़ कर गद्दे पर बिठाने की कोशिश की।

"मैं यहीं ठीक हूं मालिक। हुकुम दीजिये।"

सेठ जी के मुँह पर एक भेदभरी मुस्कराहट नाच उठी। उन्होंने कहा—"अपनी सरकार ने एक 'पञ्चवर्षीय योजना' बनाई है। इस योजना के पूरा हो जाने पर देश के सब आदमी सुखी हो जायेंगे। लेकिन इस काम में बहुत धन खच होगा। यह धन

कहीं बाहर से तो आयेगा नहीं। हमारी-तुम्हारी भलाई के लिए है तो हमको-तुमको ही देना पड़ेगा। इसके लिए सरकार ने कई तरह के टैक्स लगाये हैं। रिक्शों पर भी टैक्स बढ़ा दिया है। इसलिए रिक्शा का किराया कल से डेढ़ रुपया करना पड़ेगा।"

रामू एकटक सेठजी के मुँह की तरफ देख रहा था। बोला—"मालिक। इस 'पञ्चम योजना' की बात तो मेरी समझ में कुछ आयी नहीं। पर आप कहते हैं तो ठीक ही होगी। लेकिन…।"

सेठ जी के बगल में बैठे सज्जन बीच में ही बोल पड़े—"कोई बात नहीं। सेठ जी नहीं समझा पाये तो मैं समझा देता हूँ…।"

खो-खो……कर खाँसने लगे।

सेठ जी ने बाधा दी। कहा—"वकील साहब! आपकी तबीयत खराब है। आप कुछ मत बोलिये! रामू कोई बाहर का आदमी थोड़े ही है। मैं इसे समझा दूँगा।"

वकील साहब थोड़ी देर खाँसने के बाद बोले—"नहीं सेठ जी! तबीयत खराब है तो क्या हुआ। मैंने तो अपना जीवन ही मजदूर भाइयों की सेवा में अर्पण कर दिया है। आप तो जानते हैं—अँग्रेजों के समय में कितनी लाठियाँ खायीं, कितनी बार जेल गया, ठिठुरते जाड़े की भयानक रात में बर्फ पर लिटाया गया, हाथ की अङ्गुलियों के नाखूनों के नीचे आलपीन चुभायी गयीं। पर मुँह से कभी उफ तक नहीं निकली। यह सब किस लिये? सब अपने इन भाइयों के लिए ही तो!"

नौकर पानी ले आया था। दो घूंट गले के नीचे उतार कर

वकील साहब फिर बोले—"देश आज़ाद हुआ। हमारी अपनी सरकार बनी। इस बस्ती के मजदूर भाइयों ने विधान-सभा में मुझे अपना नुमाइन्दा चुन कर सेवा करने का फिर एक मौका दिया। आप तो जानते ही हैं कि मुझे मन्त्री का पद दे रहे थे। लेकिन मैंने इन्कार कर दिया। अपने भाइयों की या देश की जो थोड़ी बहुत सेवा मुझ से बन पड़ी है, उसकी कीमत मुझे नहीं चाहिये। मुझे तो बस अपने ग़रीब भाइयों की सेवा का मौका मिलता रहना चाहिये। बस यही इच्छा है.....।" बोलते-बोलते वकील साहब का गला भर आया। लगा जैसे ग़रीबों के दुख से दुखी होकर अब रो पड़ेंगे।

वकील साहब ने सफल अभिनय किया था। उनके त्याग और बलिदान की कहानी ने रामू को जीत लिया था। वकील साहब के प्रति उसके मन में श्रद्धा का समुद्र उमड़ पड़ा था। वकील साहब ने अपनी बात का प्रभाव अन्दाज़ने के लिये अपनी पैनी निगाह रामू के चेहरे पर टिका दी। उनकी सधी निगाह ने जब अच्छी तरह समझ लिया कि रामू अब किसी बात के लिये इन्कार नहीं कर सकता, तब रामू की ओर मुखातिब होकर उन्होंने आहिस्ता-आहिस्ता कहना शुरू किया--"हाँ, तो देखो भाई रामू, सरकार ने पाँच साल के लिये एक योजना बनाई है। इस योजना के अनुसार बड़े-बड़े बाँध बनेंगे। बिजली पैदा की जायगी। जमीनकी सिंचाई और खेती के लिए खाद की अच्छी से अच्छी व्यवस्था की

जोयगी। घर-घर में बिजली की रोशनी हो जायगी। जमीन सोना उगलने लगेगी। कई तरह के काम, बड़े-बड़े कल-कारखाने खुलेंगे। बीमारी-बेकारी नहीं रहेगी। सबके लिये साफ-सुथरे हवादार घर बनेंगे, स्कूल खुलेंगे, अस्पताल खुलेंगे। हम तुम और सभी की हालत सुधर जायगी।" वकील साहब थक गए थे। एक क्षण रुक कर पुनः बोले—"मैं कह रहा था, रामू! कि अच्छे दिन लाने के लिये कुछ कष्ट तो उठाना ही पड़ता है। बस इतनी-सी बात उन भाइयों की समझ में नहीं आई, जो तुम्हारे आने के थोड़ी देर पहले गरम होकर गए हैं। कहने लगे—

"हड़ताल करेंगे।"

रामू जो विनती करने आया था, वह भूल गया। सङ्गी-साथियों की बात भूल गया। मौत के मुंह में पहुँचा पत्नी, बिन-व्याहे अधेड़ होती राजो, भूख से बिलबिलाता मोहन, सबको वह भूल गया। रिक्शा और रिक्शा वालों की बात भूल गया। वह "पाँचसाला योजना" में गुम हो गया। उसके सामने वकील साहब की बातें साकार हो उठीं थीं। उसके गांव की जमीन पूरी जवान पर है। नजर की पहुँच तक फैली, लहलहाती गेहूं की बालें जैसे नाच रही हों। कल-कारखाने, अच्छे हवादार घर, घर-घर में बिजली का प्रकाश, स्कूल, अस्पताल। चारों तरफ काम-धंधा। सब सुखी हैं। किसी को दुख नहीं है।

सेठ जी ने, रामू के कन्धे पर हाथ रख कर पूछ—

"अब तुम्हारा क्या विचार है रामू ?"

स्वप्न में खोया-सा रामू बोला—

"ऐसी योजना का काम होना चाहिये मालिक! मैं तैयार हूं।'

सेठ जी जानते थे कि रामू की बात इन रिक्शा वालों में से कोई नहीं टाल सकता। रामू को तैयार कर लेने का मतलब है—हड़ताल नहीं होगी। सेठजी की बांछें खिल गईं। उन्होंने रामू से कहा—

"तो, रामू! अपने साथियों को भी समझा देना। बहुत रात हो गया। अच्छा अब तुम जाओ!"

रामू जब मालिक की गद्दी से बाहर निकला, तब उसके पाँव जमीन पर नहीं पड़ रहे थे। वह खुशी से फूला नहीं समा रहा था। उसका मन खुशी से नाच-नाच उठता था। जैसे अनायास ही उसे सब कुछ मिल गया हो और अब पाने को कुछ भी बाकी न रहा हो। उसी स्वप्न की खुशी में, खोया-सा वह अपनी झोंपड़ी की ओर चला।

झोंपड़ी के दरवाजे में से, कहीं-कहीं बाँस की खपचियाँ गल-सड़ कर हट गई थीं और कीलें उभर आईं थीं। दरवाजा ऐसा लगता था; जैसे किसी आदमी के शरीर से चमड़ी उधेड़ ली गई

हो, माँस निकाल लिया गया हो और रह गई हो— हड्डी। केवल हड्डियों का ढाँचा। भविष्य की रङ्गीन कल्पनाओं में खोये रामू के सर के पास, किवाड़ में उभरी कील से मामूली-सी चोट लग गयी। तब उसका स्वप्न टूटा। तब उसे वस्तुस्थिति का अहसास हुआ। यह तो उसकी वही झोंपड़ी है। बाँस की खपचियों से बनी छोटी सी झोपड़ी।

उसने किवाड़ खोला। भीतर घोर अन्धकार का साम्राज्य था। उसने टटोल कर आले में रखा ढिबरी खोज निकाली। धुंधला-सा टिमटिमाता-सा प्रकाश हो गया। झोंपड़ी के बीचोंबीच टंगे, फटे, जर्जर टाट को धीरे से हटा कर उसने देखा—सब सो गये थे। पत्नी आजकल खटिया पर सोती है, क्योंकि वह कई महीनों से बीमार है। मोहन जमीन पर, एक टाट के टुकड़े पर सोया है और उसी टाट का थोड़ा-सा हिस्सा, उसके शरीर पर भी पड़ा है। राजो शायद बाप का इन्तजार करते-करते माँ की खटिया पर सिर टिका कर बैठे बैठे ही सो गयी है।

रामू ने सोचा— राजो को जगाकर रोटी खा ले। फिर जाने क्या सोच कर, दरवाजे की तरफ के अपने हिस्से में चुपचाप आकर बैठ गया।

ऊपर से तो वह जरूर गुमसुम, चुपचाप था, किन्तु उसका मस्तिष्क बड़ी तेजी से काम कर रहा था। "पांच साल की योजना" उसके दिमाग में घूम रही थी। वकील साहब का

प्रत्येक शब्द उसके कानों में गूँज रहा था। वह सुनहले भविष्य की बात सोच रहा था। जब उसका अपना अच्छा-सा घर होगा, उसमें बिजली की रोशनी होगी, उसकी पत्नी स्वस्थ हो जायेगी, राजो का व्याह हो जायगा, मोहन साफ़ सुथरे कपड़े पहन कर स्कूल जायगा और वह अपना रिक्शा चलायेगा। बिलकुल अपना रिक्शा ! उसकी मेहनत की कमाई में से कोई हिस्सा बंटानेवाला न होगा.....और... ..।

तभी उसकी पत्नी के कराहने की आवाज सुनायी दी। उसने परदा हटाकर देखा—हड्डी का ढाँचा भर रह गया है, उसका। माँस का कहां नामोनिशान नहीं है। खाल है, सो हड्डियों को छोड़ कर झूल पड़ी है। बैठ नहीं सकती। उठ नहीं सकती। सूखी रोटी हज़म नहीं होती। फल, दूध और दवा की व्यवस्था हो नहीं सकती।

लेकिन रामू ने अभी सुना है कि बहुत से अस्पताल खुलेंगे, सबका मुफ़्त इलाज होगा, और फल, दूध के लिये सबके पास पैसे हो जायेंगे। तो.....बस ठीक तो है·····। तब चिन्ता किस बात की ? लेकिन·····लेकिन···तब तक क्या वह जीवित रह सकेगी ? नहीं नहीं। उसे तो आज आवश्यकता है—दवा की, फल की, दूध की। तो फिर·····तो फिर·····

तभी मोहन चीख उठा—"सर्दी लग रही है। कुछ उढ़ा दे न, राजो !"

रामू ने थोड़ा-सा पर्दा किनारे कर देखा। उसका मोहन !

उसका बारह बरस का बेटा फटे पुराने, जर्जर हुए टाट का टुकड़ा ओढ़े है। सर्दीके मारे घुटने पेट से सटे हैं। फिर भी वह काँप रहा है। उसका बेटा ठण्ड से ठिठुरा जा रहा है, लेकिन उढ़ाने को कुछ भी नहीं है। उसे कब तक ठिठुरते रहना होगा? आखिर कब तक? और इस प्रश्न का उत्तर वह स्वयं ही देने लगा—बस "योजना" पूरी होने तक! फिर सब ठीक हो जायगा। सारी समस्या हल हो जायेगी। कपड़ों की व्यवस्था हो जायेगी। पढ़ने की व्यवस्था हो जायेगी। लेकिन.....ले···कि···न.....

रामू को करीब ही कुछ फुसफुसाहट-सी सुनायी दी। उसने इधर-उधर देखा, कहीं कोई तो नहीं। टाटका परदा हटा कर देखा। राजो नींद में कुछ बुदबुदा रही थी। स्पष्ट कुछ सुनायी नहीं देता था। लेकिन उसने देखा कि एक क्षण राजो के होंठ फड़क उठते थे। दूसरे ही क्षण फैलने लगते। फिर एक पतली-सी मुस्कराहट नाच उठती। जाने कैसी लज्जा से उसके कपोल आरक्त हो उठते। तब उसके होंठ हिलने लगते।

राजो के चेहरे को वह पढ़ने की कोशिश करने लगा। उसने अपनी आँखें उस पर जमा दीं। अचानक उसके दिमाग में बिजली-सी कौंध गई। उसकी बूढ़ी और उमरदराज़ आँखों ने जो कुछ समझा, बताया, वह सौ बिच्छुओं के डंक से ज्यादा पीड़ा-प्रद था, अनगिनत सुइयों की चुभन से ज्यादा कष्टदायक था और एक घोर अपमान का वायस था। यह सब कुछ ऐसी बातकी ओर इशारा करते हैं, जो किसी शरीफ बाप की शरीफ बेटी के लिये व्याह के

पहले किसी भी तरह उचित नहीं समझा जा सकता। तो···तो··· क्या यह राजो अपने बापके माथे पर कलंक का टीका लगा कर ही रहेगी ?

इस प्रश्न के साथ-साथ एक अव्यक्त अपमान और क्रोध से वह तिलमिला उठा। उसकी आँखें जल उठीं। एक क्रूर, कठोर निश्चय के भाव उसके चेहरे पर झलक उठे। उसकी नसें तनने लगीं। मुठ्ठियाँ बंध गईं।

लेकिन तभी उसके भीतर का बाप जाग उठा। उसका उबला खून और उसके भीतर का बाप, दोनों आपस में उलझ पड़े, टकरा गये। इस टकराहट से एक भीषण अन्तर्ध्वनि हुई, झनझनाहट हुई, जिसने उसके मन - प्राण को झकझोर डाला। जीत बाप की हुई। गरम हुए खून पर उसके भीतर का बाप हावी हो गया। वात्सल्य प्रेम से उसका हृदय लबालब भर उठा। वह बेटी के सिर पर प्यार से हाथ फेरने लगा। बेटी का प्यार जैसे बोल उठा हो—

छि: बिचारी दिन भर घर के काम-काज में पिसती रहती है। न पहनने का, न ओढ़ने-बिछाने को। खाने को दिन में एक बार। रूखी-सूखी केवल दो रोटियां, प्याज के टुकड़े के साथ। बीस से ऊपर की हो गई पर पलट कर किसी बात का जवाब नहीं दिया, आज तक। जैसे मुँह में जबान ही न हो। जवानी की सीढ़ियाँ अब पार करने को ही है।

हाँ और क्या ? अपने जैसों की बेटियाँ यही कोई बीस-पच्चीस

की होते-होते बूढ़ी हो जाती हैं। तो राजो इस उम्र में बेपनाह मायूसी और अभाव के आलम से दूर, दुखों और कष्टों की छाया से भाग कर एक क्षण के लिये किसी के साथ मुस्कराना चाहती है। मुस्कराना चाहती है और कुछ देर के लिये सब कुछ भूल जाना चाहता है। सब कुछ—मजबूरी, मायूसी, अभाव।

कौन सी नई बात वह चाहती है?

इसमें राजो का क्या कसूर है? हाँ.....हाँ..... ठीक है.....। कसूर तो उसका है! स्वयं उसका! क्यों नहीं वह राजो का ब्याह कर बाप का फर्ज़ पूरा करता है? अगर वह नहीं कर सकता है, तो बाप बननेका उसे क्या हक़ था? क्या अधिकार था? क्या··· क्या..... ?

यह "क्या·····क्या" जैसे सारे वातावरण में प्रतिध्वनित हो उठा। रामू के कान के पर्दे हिल उठे। अपने कान उसने हथेली से बन्द कर लिये और बेटी के पास से उठ आया। कुछ देर बाद, प्रकृतिस्थ होने पर उसने सोचा—अगर पांच सालकी योजना सफल हो जाय...तो.. तो, सारी समस्याएँ हल हो जांय, सब कुछ ठीक हो जाय। बस ठीक है। वह डेढ़ रुपया किराया देगा! वह हड़ताल नहीं होने देगा!!

दूसरे दिन हड़ताल हुई तो जरूर, लेकिन रामू और उसके साथियों के साथ न देने के कारण असफल रही। धीरे-धीरे सब

काम पर आ गये। "अच्छे दिन" लाने के लिये रामू और उसके साथी पहले से ज्यादा काम करने लगे, पहले से ज्यादा किराया भी देने लगे।

चार वर्ष बाद।

देश की हालत में तब्दीली आ गयी है। वकील साहब की बातें सत्य-सी साबित होने लगी हैं। बाँध बने हैं। कुछ बन रहे हैं। नहरें निकाली गई हैं। अन्न की उपज बढ़ गयी है। नये स्कूल खुले हैं। बड़े-बड़े अस्पताल खुल रहे हैं। कुछ नये कल-कारखाने भी खुले हैं। कहीं कहीं झोंपड़ियों की जगह अच्छे हवादार घर भी बने हैं। यह बात दूसरी है कि उन अच्छे और हवादार घरों में वही रहते हैं जो अच्छे घरों में रहते आये हैं।

रामू की हालत भी बदल गई है। जरूर बदल गई है। उसकी बीमार पत्नी दवाके अभाव में उसकी लाचार और बेबस आँखों के सामने तड़प-तड़पकर दम तोड़ चुकी है। वह केवल देखता रहा है। उसकी बेटी राजो जाने एक रात अचानक कहां चली गयी। उसके बाद रामू ने तो उसे नहीं देखा, लेकिन पास-पड़ोस के लोग कहते हैं कि वह खुले आम बाज़ार में बैठने लगी है।

और उसका बेटा मोहन अब रामू की जगह रिक्शा चलाता है। छोटे लोगों की बस्ती, जहाँ रामू और उसकी स्थिति के दूसरे लोगों की झोंपड़ियाँ थी, अब वहाँ नहीं हैं। नई योजना

के अनुसार वहां अच्छे हवादार घर बन गये हैं। रामू, नन्हकू और उस बस्ती के दूसरे आदमी, औरतें, बच्चे, परिवार अब सर्दी, धूप-ताप, वर्षा से अरक्षित अवस्था में खुले नीलाम्बर के नीचे कभी यहां, कभी वहां रहते हैं। रामू का शरीर टूट चुका है। उसकी आशायें टूट चुकी हैं। इन चार वर्षों में 'अच्छे दिन' लाने के प्रयत्न में वह बहुत बूढ़ा हो गया है।

रामू के गांव से कोई आता है तो उसे बताता है: "गांव के करीब नहर आ गयी है, दवाखाना खुल गया है, उपज बढ़ गई है, स्कूल खुल गया है, डाकघर खुल गया है। लेकिन ..लेकिन..." आगे वह नहीं बोल पाता। गला अवरुद्ध हो जाता। आँखें भर आतीं।

और कोई बतायेगा भी क्या? रामू आखिर क्या नहीं जानता? अब वह सब कुछ जान गया है। वह जान गया है कि गाँव के पास नहर आने और उपज बढ़ने से उन्हीं को फायदा हुआ है जिनके पास हमेशा से अपनी जमीन चली आई है। स्कूल, कारखाना, डाकघर की सुविधा का उपयोग वही करते हैं, कर सकते हैं जिनके पेट भरे हैं, जो पेट की चिन्ता से मुक्त हैं, जिनके चेहरे से आसूदगी टपकी पड़ती है।

देर से ही सही, अब रामू इस योजना की हक़ीकत समझ गया है और अपने जवान बेटे मोहन को भी समझा दी है, जिसकी रगों में गरम खून उबल रहा है, जिसके दिल में कुछ कर गुजरने की हसरत है, हिम्मत है, उत्साह है। उस जवान ने जिसकी

सशक्त और आकाश की ओर उठी हुई मुट्ठी में कलका भविष्य है, अच्छी तरह जान लिया है कि यह योजना झोंपड़ियों के गरीबों को फुटपाथ का भिखारी और अमीरों को और अधिक अमीर बनाने की योजना है।

डूबता उगता सूरज

मजदूरों की तरह दिनभर के कठिन श्रम से थक कर चूर, क्लांत या शायद संघर्ष से हारकर सूर्य जब पश्चिम दिशा में क्षितिज के नीचे अपना मुंह छिपाने के लिये उतरने लगता है तो उसका मुख-मण्डल लाल—सुर्ख खून की तरह लाल—हो उठता है, शायद हार की लज्जा से। और यह रक्तिम आभा आकाश, धरती तथा सारे वातावरण पर छा जाती है। यह लाली आकाश में स्वच्छन्द विचरते पक्षियों के लिए, मिल या खान में खून पसीना एक करते मजदूरों

के लिये, दफ्तर में पिसते 'बाबुओं' के लिये जैसे एक सिगनल हो, जिसे देखते ही सब अपने-अपने नीड़ों की ओर, अपने रैन-बसेरों की ओर, अपने घरों की ओर चल पड़ते हैं—विश्राम के लिये, अपने प्रियजनों से मिलने के लिये।

दिन और रात की मिलनबेला— यह संध्या—शायद किसी के लिये सुखद मिलन का संदेश लेकर आती हो। शायद किसी को लगता हो कि अपनी प्रियतमा— धरती—से मिलने को आतुर, आकुल नीलाम्बर ने जैसे अपनी बाँहें फैला दी हों, धरती पर झुक आया हो और धरती का मुख-मण्डल नारी सुलभ लज्जा से आरक्त हो उठा हो।

किन्तु रेखा ऐसे समय पर उदास हो जाती। उसका रोम-रोम उदास हो जाता। हारकर डूबते सूर्यके साथ उसका दिल भी जैसे डूबनें लगता, बैठने लगता। फिर सारे वातावरण पर जैसे अन्धकार की गहरा, काली तह पर तह जम जाती, वैसा ही भयानक गहन अन्धकार उसके मन, प्राण पर छा जाता। उस अन्धकार में जैसे वह डूबने-उतराने लगती। किनारे पर लगने के लिये हाथ-पैर मारने की भी कोशिश वह नहीं करती। छोड़ देती अपने आप को बहाव में, तेज बहाव में। चाहे किनारे लगे, चाहे डब जाय।

रेखा को सब सूना-सूना लगता···आँखें, मन, प्राण भीतर सब सूना ही सूना। सूना···साँय...साँय... जेठ की दोपहरी की तरह सूना। सूना ..सूना .. बस सूनापन।

गाड़ी, ताँगा, बस, ट्राम, मोटर की खड़खड़, धड़धड़ और शहर का जन-कोलाहलमय वातावरण, सब मिलकर भी उसके सूनेपन को एक क्षण के लिये दूर नहीं कर पाते। यह सूनापन उसे काटने लगता। वह हार जाती। हार जाती इस सूनेपन से। हार के प्रतीक आँसू छलछला आते उसकी आँखों में। और फिर आँखों के कोनों में एक पल रुककर लुढ़क पड़ते।

अन्तर की हार का भेद प्रकट हो जाता। होठों पर नमकीन-सा अनुभव होते ही रेखा चौंक उठती। जल्दी से आँसुओं को पोंछ डालती। चोर का तरह चारों ओर नज़र दौड़ाती—कहीं किसी ने देखा तो नहीं?

लेकिन स्कूल के उस क्वार्टर में कौन होता, जो उसे देखता। किसे गरज़ पड़ी थी उसे देखने की? उसका अपना है ही कौन?

हाँ, उसका अपना कौन है? उसके मन-प्राण बोल उठते—"कोई तो नहीं। कोई नहीं। अपना कोई नहीं है।" ये शब्द जैसे सारे वातावरण में प्रतिध्वनित हो उठते। वह अपने दोनों हाथ कान पर लगा लेती पूरी ताकत से, पूरे जोर से। और बरामदे की कुर्सी से उठकर वह भीतर कमरे में चली जाती। मन में उठते तूफान, पर विजय न पा सकने पर, तकिये में मुंह छिपाकर सुबकियां लेने लगती। इन सुबकियों से उसे कुछ राहत मिलती। कुछ प्रकृतिस्थ होने पर उठकर स्विच ऑन करती।

चारपाई के करीब रखी 'दीपशिखा' उठा लेती । बिना खाये-पिये, जाने कितनी रात तक वह 'दीपशिखा' के गीत गुनगुनाती रहती ।

सन्ध्या को अपनी नौकरी—स्कूल—से लौटने के बाद का यह उसका रोज का कार्यक्रम था, जो अबाध गति से, बिना किसी विघ्न-बाधा के, पिछले कई वर्षों से ऐसा ही चल रहा था।

लेकिन आज !

आज रोज के कार्यक्रम में कुछ व्यक्तिक्रम आ गया है। स्विच ऑन कर अपनी चारपाई पर तो लेट गयी रेखा। 'दीपशिखा' भी उठा ली। लेकिन... लेकिन... लेकिन उसकी आँखें 'दीपशिखा' के पृष्ठों पर ठहर नहीं पातीं, आज। खुले पृष्ठ पर से फिसल कर उसकी नज़र सामने दीवाल पर टँगे फोटो पर स्थिर हो जाती है। यह फोटो, अंग्रेज़ी लिबास पहने एक खूबसूरत जवान का है। कितना खूबसूरत है, यह फोटो !

यह फोटो कान्त का है। कान्त ! कान्त; रेखा का पति, उसका स्वामी, उसके स्वप्नों का राजा, उसका देवता। फोटो के करीब ही कलेंडर टंगा है। एक क्षण वह फोटो को देखती है। दूसरे क्षण उसकी निगाह कलेंडर की ओर खिंच जाती है। कलेंडर में सन् १९५४ के मई महीने की दूसरी तारीख दीख पड़ती है। दो मई को इतवार था। इतवार को स्कूल बन्द रहता है।

लेकिन स्कूल तो वह गयी थी, आज भी। तो आज सोमवार है और मई की तीन तारीख है।

मई की तीसरी तारीख। हां, मई की तीसरी तारीख ही है। सुबह, रोज़ की भांति जब रेखा दूसरी तारीख फाड़ने लगी थी, तब नीचे तीन मई देख कर स्मृतियों की एक बिजली-सी उसके दिमाग में कौंध गयी थी। उसके दिल को जैसे कोई तीखी सुई से कोंचने लगा हो। एक अजीब-सी सिहरन से वह काँप उठी थी। एक क्षण सकते की सी हालत में, किंकर्तव्यविमूढ़-सी, प्रतिमा-सी वह कलेंडर पर हाथ रखे खड़ी की खड़ी रह गयी थी।

फिर कुछ आश्वस्त होने पर बिना तारीख फाड़े ही उसने कलेंडर से हाथ खींच लिया था। इस विचार से कि न मई की तीन तारीख उसकी आँखों के सामने होगी और न इसके साथ जुड़ी मधुर या कड़वी स्मृतियाँ उसे याद आयेंगी, जिन्हें वह भुला देना चाहती है, जिन्हें वह भूल जाना चाहती है।

दिन भर स्कूल में छात्राओं के साथ रेखा ने अपने आपको उलझाये रखा—जानबूझ कर, ज़बर्दस्ती। किन्तु अब रात को वह अपने आप पर, अपने मन पर क़ाबू न रख सकी। विचारों की, भावनाओं की, मधुर और कड़वी स्मृतियों की उमड़ती, घुमड़ती वेगमयी भयानक आँधी के सामने उसके मन का कमजोर बांध टिक न सका। एक भीषण अंतर्ध्वनि के साथ टूट गया। टूटते ही बंधे जल में अचानक रवानी आ गयी और यह रवानी, यह गति तेज होती ही गयी···तेज····तेज...।

रेखा उठी। कान्त का फोटो उतार कर अपने सीने से लगा लिया। कलडर के ऊपर की दो तारीख फाड़ डाली। मई की तीन तारीख सामने आ गयी। मई की तीन तारीख! मई की तीन तारीख! इस तारीख के साथ जुड़ी तमाम स्मृतियां एक के बाद दूसरी चल-चित्र की तरह साकार होकर उसकी आँखों के सामने उभरने लगीं।

सात वर्ष पूर्व···।

तब रेखा केवल अट्ठारह वर्ष की थी।

रेखा की इण्टर की परीक्षा का परिणाम अभी निकला नहीं था। शादी की बात पक्की हो गयी। मई की तीन तारीख निश्चित हुई। तीन मई को सुबह परीक्षा का परिणाम निकला—रेखा प्रथम श्रेणी में पास हुई। उसी संध्या को कान्त बरात के साथ आया। रेखा ने भी छिपकर देखा था, अपने दूल्हे को। उसकी आँखें बोल पड़ी थीं—कितना सुन्दर है, उसका कान्त?

आँखों को ही जीभ का काम करना पड़ा था, क्योंकि जीभ उस समय सी कर रखी जाती है। भाँवरें पड़ीं। कान्त और रेखा एक हो गये, हमेशा के लिए।

फिर आयी मायके से बिदा की वेला···।

आनन्द और बिछोह की संधि के मौके पर स्वतः आंसू छलछला आते हैं, ढुलक पड़ते हैं, गालों के ऊपर से। वह स्मृति प्रत्येक नारी के मानस-पटल पर हमेशा के लिए अंकित हो जाती है। कितनी प्यारी है, वह स्मृति!

माँ रो रही थी। सखी-सहेलियाँ रो रही थीं। रेखा की आँखें भी रो रही था। और रेखा का दिल तो उसके पास था ही नहीं, वह पराया हो चुका था।

नया घर···।

नये घर में उसका खूब स्वागत हुआ। घर क्या था, पूरा महल था और दूल्हन के स्वागत में पूरा महल, महल के अनुरूप ही सजाया गया था। दरवाजे पर ही सास, कई औरतों के साथ खड़ी थीं। रेखा सास के चरणों में झुकने लगी थी तो सास ने झुकने नहीं दिया था। गले से लगा लिया था। और कहा था—"तुम्हारा स्थान पैरों में नहीं है। मेरे दिल में है बहूरानी!"

सास ने सराहा। नाते रिस्तेदारों ने जोड़ी की प्रशंसा में पुल बांध दिये। मुहल्ले में कई दिनों तक चर्चा रही।

कान्त ने रेखा पर अपने दिल का सारा प्यार उड़ेल दिया था। रेखा ने अपने कान्त पर अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया था। चारों तरफ खुशी का राज्य। हर्षोल्लास का साम्राज्य। दिन पल की तरह बीतने लगे। रङ्गीन कल्पनाओं में विभोर, खुशी में पागल रेखा का कुछ पता नहीं लगता—कब दिन होता, कब सन्ध्या आती, कब रात आ जाती।

तीन सौ पैंसठ दिन, बारह महीने, एक वर्ष। तीन मई फिर लौट आयी। लेकिन रेखा को कुछ नहीं मालूम हुआ। उस दिन सुबह कान्त ने कहा था—हमारी शादी हुए एक वर्ष हो गया, रानी! आज तीन मई है। खुशियाँ मनाओ, नाचो, गाओ!

तब रेखा जैसे सोते से जगी हो—एक वर्ष हो गया ? एक साल बीत गया ? लेकिन उसे विश्वास नहीं हुआ था। उसने स्वयं कलेंडर देखा। यकीन तो तब भी नहीं आया था, लेकिन किसी तरह मान लिया था उसने। उसी दिन दोपहर में दफ्तर से टेलीफोन आया—कान्त को हैज़ा हो गया।

कान्त स्ट्रेचर पर घर लाया गया। डाक्टरों का ताँता लग गया। लेकिन हालत बिगड़ती गयी। रेखा ने भगवान से प्रार्थना की—प्राण ही चाहिये तो मेरा प्राण ले लो भगवान ! कान्त को बख़्श दो। मेरा सोहाग मत छीनो।

लेकिन सुनने वाला कोई हो, तब तो सुने। वही हुआ जो होना था। डाक्टर कुछ न कर सके। रेखा की माँग का सिन्दूर पुंछ गया, उसका सोहाग उजड़ गया। उसकी ज़िन्दगी वीरान हो गयी। उसने अपना सिर पटक दिया था। जमीन खून से तर हो गयी थी। अब इतने बड़े महल में रेखा को कोई पूछने वाला न था। जो लोग उसे आँखों पर बिठाये रखते थे, वे अब आँखें चुराने लगे थे। किसी शुभ कार्य में उसकी उपस्थिति भावी अनिष्ट की आशंका का वाइस समझी जाने लगी थी। कुछ दिनों तो रेखा पागलों की सी स्थिति में रही। न खाना, न पीना। फिर सभी तरफ से तटस्थ होकर घर के काम-काज में अपने अपको उलझाये रखना शुरू किया।

वे दिन कहाँ चले गये थे ?

वे दिन अब न रहे। वे रातें अब न थीं। हर्ष कैसा ? उल्लास

क्यों ? कैसे ? क्यों कर ? सब खत्म हो चुका। कुछ भी शेष नहीं बचा। जीवन मरुभूमि की सूखी रेत-सा। न वर्षा की आशा। न फूलने-फलने की कामना। न कोई इच्छा। न कोई ख्वाहिश। सारे घर का काम-काज रेखा ने अपने कन्धों पर उठा लिया था। फिर भी पलक झपकते ही बीत जाने वाले दिन अब हजारों बर्षों से भी लम्बे हो गये थे। पहाड़ से भी भारी हो बैठे थे। ये दिन काटे कटते ही न थे।

और रात।

रात उसकी अपनी थी। केवल अपनी। और यह सूना सूना-सा अपनापन ही उसे सबसे ज्यादा कष्टदायक था। रात सूनी, भयानक, शायद मृत्यु से भी ज्यादा भयानक। भयानकता में, उस जानलेवा सूनापन में गरम-गरम आँसू कुछ देर तक उसका साथ देते। जब तक उसकी आँखों में गीली बने रहने की शक्ति रहती, उसकी आँखें गीली ही रहतीं। उसके गाल भी भींगे रहते। उसका तकिया भी भीगा रहता। और आँख जब सूख जाती, तो सूखी-सूखी फटी-फटी-सी आँखें वह अपने कान्त के फोटो पर जमा देती। जाने कब तक उसकी नज़र वहीं टंगी रहती ? कब सोती ? सोती भी कि नहीं ? वह स्वयं नहीं जानती !

रेखा की ज़िन्दगी ने करवट ली। एक मोड़ आ गया, जिसने उसके जीवन को एक नयी दिशा में मोड़ दिया। वह रात उसे भूले नहीं भुलती। सारा काम काज समाप्त कर, रोज की तरह उस रात भी दूध का गिलास लेकर वह अपने देवर के कमरे में

गयी। प्रकाश—उसका देवर—रोज उस समय किताबों में उलझा रहता, टेबल पर किताबें बिखरी रहतीं। लेकिन उस रात टेबल पर किताबों का स्थान शीशे के गिलास और बोतल ने ले लिया था। देख कर एक क्षण वह ठिठकी। फिर लौटने को मुड़ी। प्रकाश की उस पर नज़र पड़ गई थी। उसने कहा—"आओ! भाभी! गिलास रख दो!"

टेबल पर गिलास रखने को वह जैसे ही झुकी, प्रकाशने बहशियाने ढंग से हँसते हुए उसका हाथ पकड़ लिया था। छुड़ाने की कोशिश में नाकामयाब होने पर, सिर्फ डराने के लिये रेखा ने टेबल पर रखी बोतल उठा ली थी। किन्तु स्थिति ऐसी हो गयी थी कि प्रकाश के बहशीपन से अपनी रक्षा करने का, बोतल से प्रहार करने के अलावा और कोई उपाय रह ही नहीं गया था। वही उसने किया। प्रकाश के सर से खून का फव्वारा-सा फूट पड़ा था। शोर गुल हुआ। घर के सब लोग जमा हो गये। किसीने रेखा से कुछ पूछने की आवश्यकता नहीं समझी।

ननद कहने लगी·····"घर में आते ही बड़े को तो खा गयी, डाइन! अब छोटे पर भी हाथ साफ करना चाहती है। चल निकल जा इस घर से!"

तभी सास चिल्ला उठी थी—"मैं पहले ही जानती थी इस कुलच्छनी को। खसम को तो खा गयी। यह सारे घर को खा जायगी।"

और लगी पुक्का फाड़ कर रोने।

अकारण ही हुए अपमान, तिरस्कार और जबर्दस्ती लादे गये कलंक को वह चुपचाप, बिना प्रतिकारके पीना नहीं चाहती थी, बरदाश्त नहीं करना चाहती थी। क्रोध से उसका शरीर थर थर काँपने लगा था। उसकी आँखें जलने लगी थीं। स्थिति स्पष्ट करने के लिए मन में कशमकश होने लगी थी, होंठ फड़फड़ा उठे थे। लेकिन बात होंठ तक आकर रुक गयी। अधर हिल कर रह गये। आखिर वह क्या कहे? कैसे कहे? कैसे स्पष्ट करे अपनी स्थिति को?

वह कुछ न बोल सकी थी। डाक्टर जब आ गया तो वह चुपचाप, निश्शब्द अपने कमरे में चली आयी थी। कपड़े बदले। थोड़े से रुपये लिये। उस महल से बाहर निकली। फिर स्टेशन। रेल का टिकट। चल दी थी, मायके को।

लेकिन प्रकाश के साथ घटी घटना का समाचार वहां पहुँच चुका था। भाइयों ने अपनी बहन को अपने घर में पनाह देने से इन्कार कर दिया। उन्होंने भी कुछ सुनना नहीं चाहा, कुछ जानना नहीं चाहा।

तब साहस बटोर कर रेखा ने कहा था—"भाई साहब! यह मकान, यह बगीचा, और यह सारी दौलत तो पिता जी की है। मैं भी तो उनकी सन्तान हूं। आप मालिक बने रहें, मैं हिस्सा नहीं माँगती। लेकिन अपने पिता के घर में, सर छिपाने को थोड़ी सी जगह भी मुझे नहीं मिल सकती? लेकिन मैं पूछती हूं क्यों? क्यों नहीं मिल सकती? क्यों नहीं मिल सकती? क्या मैं आपकी

छोटी बहन नहीं हूं? क्या हम एक माँ-बाप की सन्तान नहीं हैं?"

तब भाई साहब का चेहरा क्रोध से विकृत हो उठा था, भयानक हो गया था। पहले कभी ऐसा हुआ होता तो रेखा डर से काँप उठती। लेकिन अब वह डरना भूल गयी थी। उन्होंने हाथ नचाते हुए जोर से कहा था—"जा, निकल जा यहाँ से, नहीं तो धक्के मार कर निकलवा दूंगा। एक तो कुकर्म करती फिरती है। ख़ानदान का नाम डुबा दिया। ऊपर से हिस्से और अधिकार की बात करती है? जाओ! चली जाओ यहां से। बाप की जायदाद में लड़कियों को हिस्सा दिलाने वाला सत्यानाशी कानून जिस दिन बन जाय, उस दिन आना। अभी निकल जाओ!"

बाहर अपने बाप के मकान के सामने खड़ी होकर रेखा ने सोचा था—

"यह तालाब, यह बग़ीचा, यह आलीशान इमारत यह सब उसके अपने बाप ने बनवाये थे। मरते समय अपने बच्चों के लिए काफी धन-सम्पत्ति भी छोड़ दी थी उन्होंने। उनके बच्चों में दो भाइयों के अतिरिक्त एक स्वयं रेखा भी तो है। भाइयोंका इस आलीशान इमारत पर अधिकार है, तालाब पर अधिकार है, बगीचे पर अधिकार है, धन-सम्पत्ति पर अधिकार है। लेकिन रेखा का किसी पर कोई हक़ नहीं, कोई अधिकार नहीं। अधिकार सिर्फ इसलिये नहीं है कि वह लड़की है, एक औरत है।

और औरत होना इस देश में गुनाह है, पाप है, बदकिस्मती का साइनबोर्ड है। समाज पुरुषों का है। कानून उनका है। व्यवस्था उनकी है, क्योंकि पुरुष शक्तिशाली है, वह मालिक है।"

निराश होकर रेखा ने अपनी सखी-सहेलियों पर नज़र दौड़ायी थी। मालती—उसकी प्रिय सहेली—दिल्ली में एक स्कूल की प्रधानाध्यापिका थी। उसकी सहायता से रेखा को भी स्कूल में अध्यापिका का कार्य मिल गया था। पिछले पाँच वर्षों से वह उसी स्कूल में काम करती है।

सुबह होने को है। रेखा की आँखों से आँसू गायब हो गये हैं। बहुत रो चुकी है, वह। अब नहीं रोयेगी। उसकी आँखों में दृढ़ निश्चय के भाव झलक उठे हैं। उसने बिस्तर छोड़ दिया। कान्त के फोटो को यथास्थान टाँग दिया। बत्ती गुल करने के पहले, उसने कलेंडर पर हाथ रखा। मई की तीन तारीख का पन्ना फाड़ लिया। उसके छोटे-छोटे कई टुकड़े कर डाले। जैसे उसके साथ जुड़ी स्मृतियों को उसने नष्ट कर दिया हो।

फिर बाहर बरामदे में आकर उसी कुर्सी पर बैठ गयी, जिस पर पिछली सन्ध्या को बैठी थी, जिसपर बैठ कर वह प्रत्येक संध्या को पश्चिम में डूबते सूरज को देखा करती थी। उसकी रक्तिम आभा देखा करती थी। डूबते सूरज की रक्तिम आभा!

लेकिन आज।

आज वह पूरब में उगते सूरज की रक्तिम आभा देख

रही है। यह सूरज डूबने का नहीं है। यह अभी ऊपर उठेगा। अंधकार और निराशाओं का अन्त कर सारी पृथ्वी को आलोकित कर देगा। नयी आशा, नयी चेतना, नयी प्रेरणा बिखेर देगा। रेखा के मुरझाये पीले चेहरे पर उगते सूरज की जीवनदायिनी रक्तिम किरणें अठखेलियाँ करने लगी हैं। आज कई वर्षों बाद एक नयी आशा और उमंग उसके दिलमें हिलोरें लेने लगी हैं। मुस्कराहट उसके अधरों पर नाच उठी है। और उस मुस्कराहट में जैसे ज़िन्दगी के प्रति अडिग आस्था मुखर उठी हो।

हा-हा-हा...

"बाबूजी ! बाबूजी ! बचाओ ! बचाओ ! देखो यह मुझसे गुड़िया छीन रहा है। बचाओ बाबूजी !" और आठ वर्ष की श्यामवर्णा रुग्णा श्यामा ने भयभीत होकर अपनी छोटी-सी काठ की गुड़िया को अपने दुर्बल काँपते हाथों में बूते भर मजबूती से पकड़ लिया और फिर फटी चद्दर के नीचे अपने सीने से चिपका लिया। उसका रोम-रोम काँप उठा। आसन्न आशंका से उसके छोटे से दिल की हरक़त तेज हो उठी। धीरे-धीरे डरते हुए उसने पहले एक आँख

बन्द कर ली और फिर जल्दी से दोनों आँखें खोल कर अपने ईर्द गिर्द देखने लगी।

कहीं कोई तो नहीं है। तब शायद उसने सपना देखा था। लेकिन कितना खौफ़नाक था वह ख़्वाब ? आह ! कितना भयानक ? राक्षस-सा भयंकर चेहरा और वैसा ही ताड़-सा लम्बा, बांस-से लम्बे-लम्बे पैर तथा कितने बड़े बड़े और भयानक उसके दाँत थे। ओह .....। उसके रोंगटे खड़े हो गये। दहशत से वह सिहर उठी और पुनः उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं। आँखें मीचे रहने से फिर कहीं वही भयंकर आकृति न दिखने लगे, इस डर से उसने आँखें खोल दीं। भयभीत दृष्टि से उसने अपनी कोठरी की प्रत्येक वस्तु को बड़े गौर से देखना शुरू किया। उसे डर था, शायद वह खौफ़नाक राक्षस सिमट कर यहीं कहीं छिपा बैठा हो और मौके की इन्तज़ार में हो।

लेकिन इस कोठरी में कहीं तो कुछ नया सामान दिखाई नहीं देता। यह फटी, गंदी दरी, जो हमेशा उसकी छोटी-सी खटिया के करीब नीचे फर्श पर बिछी रहती है और जिस पर लेट कर उसके बाबूजी एक हाथ से उसकी पीठ सहलाया करते हैं। सहलाते रहते हैं, जब तक कि वह प्रगाढ़ निद्रा में लीन नहीं हो जाती।

एक कोने में, सुपरिचित मटमैले रंग का बाबूजी का कुर्ता टँगा है। उसी के बगल में उनकी मोटी-सी धोती है। जिस पर कई पेबन्द लगे हैं। धोती के पास ही उसकी अपनी

रङ्गीन फ्राक है, जो अभी चन्द दिनों पहले ही बाबूजी नौकरी से लाये हैं। उसके बाबूजी को प्रत्येक चीज नौकरी देती है—आटा, दाल, कपड़ा, आदि।

दूसरे कोने में ये मिट्टी के दो घड़े हैं, जिसमें आटा और दाल रखी जाती है। यह सफेद-सा दिखने वाला अलुमीनियम का कटोरा है, जिसे वह चाँदी का ही समझा करती थी। इस कटोरे में बाबूजी के लिये दाल बनती है, उसके लिये साबूदाना या बार्ली बनती है। इतवार को—सप्ताह में एक दिन—इसी कटोरे में उसके लिये दूध गरम होता है। उस दिन थोड़े से दूध को वह बहुत देर तक पीती रही है—एक एक घूंट, मज़ा लेते हुए। दूध उसको कितना अच्छा लगता है!

इसी कटोरे के पास बाल्टी का चूल्हा रखा है। और एक कड़ाही रखी है। बस, यही तो सामान है इस घर में। और ये सारी चीजें उसकी जानी-पहचानी हैं। वह इन वस्तुओं से उतनी ही परिचित है जितना अपने बाबूजी से। अपने अच्छे बाबूजी से!

लेकिन.....बाल्टी और लोटा क्यों नहीं दिखाई देता? शायद बाबूजी बाहर के नल पर नहाने और पानी भरने गये हैं। बाल्टी में पानी लेकर वे अभी आते ही होंगे। आते ही उसे प्यार करेंगे। बाबूजी उसे कितना प्यार करते हैं। कभी नाराज़ नहीं होते। कभी नहीं मारते। चुन्नी के बाबूजी तो उसे बहुत मारते हैं।

अभी उसके बाबूजी आयेंगे और यहीं उसके सामने बैठकर

रोज की तरह साबूदाना बनायेंगे। रोटी और दाल बनायेंगे। और वह अपनी खटिया पर लेटे-लेटे बड़े ध्यान से आँखें गड़ाये देखती रहेगी। गौर से वह इसलिये देखती है कि आज नहीं तो वर्ष दो वर्ष बाद सही, उसे इस रोटी-पानी, चूल्हे-चक्की का भार तो अपने ऊपर लेना ही पड़ेगा। इस कला मे लड़कियों का पारंगत होना बहुत जरूरी है, ऐसा उसके बाबूजी कहते हैं।

लेकिन आज बाबूजी ने इतनी देर क्यों कर दी? नित्य तो वे नहा-धो लेने के बाद चूल्हा जलाकर ही उसे जगाते थे। जब से वह आँखें खोलती है, बाबूजी को अपने पास ही पाती है। केवल दिन में उसे अकेले रहना पड़ता है, क्योंकि बाबूजी नौकरी पर जाते हैं। नौकरी के यहां जाना तो जरूरी है, क्योंकि वही तो उन्हें आटा, दाल, साबूदाना और कपड़ा आदि देती है।

एक दिन जब उसके बाबूजी बाहर जा रहे थे, तब उसके पूछने पर उन्होंने कहा था—आटा, दाल, कपड़ा और उसके लिये दूध, अच्छे-अच्छे फ्राक नौकरी ही तो देती है और अगर नहीं जायेंगे तो ये सारी चीजें कहां से आयेगी, कौन देगा। तब से उसने ये शब्द रट लिये हैं। और नौकरी को काली माई के समकक्ष कोई देवी मानती है। अन्य देवी-देवताओं की तरह, नौकरी देवी की भी एक सुन्दर-सी प्रतिमा उसने अपने मन में स्थापित कर ली है, गो कि उसके डील-डौल, आकार-प्रकार के बारे में अभी तक वह किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सकी है।

कोयले के धूएं से कोने में गहरी कालिख की कई परत जम

गई है। श्यामा को अचानक उसमें से वही भयानक शक्ल उभरती दिखायी दी। वह काँप उठी। डर कर उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं और शक्ति भर ज़ोर से चिल्ला उठी—"बाबूजी ! बाबूजी ! मुझे बचाओ !"

रामधन स्नान कर पानी की बाल्टी हाथ में लटकाये,कोठरी के नजदीक पहुँच चुका था। बच्ची की आवाज़ सुनकर तेजीसे भीतर की ओर लपका। बाल्टी रख कर, हाँफते हुए उसने श्यामा को अपनी गोद में ले लिया। श्यामा का शरीर गरम तवे-सा जल रहा था। रात से ही फिर उसे तेज बुखार आगया है।

रामधन ने पूछा—"क्या है बेटी ? क्या बात है ?" श्यामा रामधन के गले में बाहें डाल कर कुछ देर चुपचाप चिपकी रही। कुछ आश्वस्त होने पर आँखें बन्द किये ही, बिना मुंह खोले अंगुली से कालिख से पुते कोने की ओर इशारा किया। रामधन ने उस ओर देखा—धूंए से काली काली शक्ल-सी बन गई थी। उसे समझने में देर नहीं लगी कि लड़की उस कालिख से डर रही है। उसने कहा—"कहीं कुछ तो नहीं है, श्यामा ! आँखें खोलो !"

लेकिन श्यामा इतना डर गई थी कि कई बार कहने पर भी आँखें खोलने का साहस उसे नहीं हुआ। वह रामधन की गर्दन में हाथ डाले उससे चिपकी रही और थोड़ी देर में सो गई।

रामधन ने श्यामा को उसकी खटिया पर लिटा दिया। गीली अँगोछी को बदल कर उसने दूसरी अँगोछी पहन ली। इस

अँगोछी को पहन कर वह खाना बनाया करता है। लेकिन आज वह खाना नहीं बनाएगा।

आज उसकी खाने की इच्छा नहीं है। उसका मन कल रात से ही खिन्न है, और श्यामा के बुखार ने तो उसका रहा सहा उत्साह भी ठंडा कर दिया है। कई महीनों से बुखार इसका पीछा नहीं छोड़ रहा है। कभी कम कभी ज्यादा, हमेशा बना ही रहता है। अपनी शक्तिभर उसने दवा-पानी में कोई कोर-कसर नहीं रखी है। इस दवा-पानी के सिलसिले में कर्ज़ भी काफी हो गया है—दो सौ रुपये। दो सौ रुपये! उसकी चार महीनों की तनख्वाह से भी अधिक ही होती है, यह रकम। अब तो उसे कर्ज़ भी कहीं से नहीं मिलता। अपने बकाया रुपयों का ही लोग तकाज़ा करते रहते हैं।

ज़िन्दगी से भी अज़ीज अपनी बच्ची के लिये उसे इंजेक्शन्स खरीदने हैं। पथ्य-परहेज के लिये दूध-फल की व्यवस्था करनी है। असल पूंजी अभी न सही, बकाया रुपयों का ब्याज तो उसे देना ही होगा। इस कोठरी का भाड़ा देना है और अपने पापी पेट में झोंकने के लिये भी कुछ चाहिये ही। ये कम से कम आवश्यक जरूरतें हैं, उसकी। लेकिन तीस दिनों की जी तोड़ मेहनत करने, अपने खून को पानी करने के बाद, उसे मिलेंगे—सिर्फ चालीस रुपये। वह क्या करे और क्या न करे, कभी कुछ निश्चय नहीं कर पाता।

अब वह दवा नहीं खरीद पाता। इंजेक्शन भी नहीं खरीद पाता।

और ब्याज भी नहीं दे पाता। दूध की व्यवस्था वह जरूर करता है—बच्ची के लिये। लेकिन वह भी तीस दिनों में केवल चार दिन—सिर्फ इतवार को। कोठरी का किराया उसे हर महीने की दस तारीख को देना ही पड़ता है। अगर न दे तो दूसरे दिन से उसके सिर से यह टिन का साया भी उठ जाय। ठीक समय पर भाड़ा न देने पर वह बड़ी बड़ी मूंछों वाला दरवान अपने मालिक के इशारे मात्र पर उसका सामान सड़क पर फेंक सकता है।

अभी उस दिन की घटना याद कर वह सिहर उठा। बगल की कोठरी में हरिचरन रहता था। बेचारा बड़ा अच्छा आदमी था। कचौड़ी, बड़ा आदि का खोमचा लगाता था। उसकी पत्नी को बच्चा हुआ, इसलिये समय पर भाड़ा न दे सका। उन्हें बाहर निकाल दिया गया। नवजात शिशु के साथ रोती-बिलखती उसकी पत्नी सामने नल के किनारे पड़ी रही। ऐसे अन्याय पर भी आकाश नहीं टूट पड़ा-! धरती नहीं फटी ! बच्चा वहीं मर गया। दूसरे दिन जच्चा भी वहीं मर गई।

उस दिन से वह भाड़ा देने की तारीख का विशेष ध्यान रखता है। किराये के रुपये देने, दूध और साबूदाना खरीदने के बाद, उसके पास इतने पैसे भी नहीं बच पाते कि वह तीसों दिन एक जून भी रोटी खा सके। तो इलाज अब कैसे हो ? कहां से हो ? यह एक पहेली है, जिसे वह हल नहीं कर पाता।

करीब आते कोलाहल ने उसका ध्यान भंग कर दिया। सड़क की तरफ खुलने वाले दरवाज़े को खोलकर उसने देखा—सैकड़ों

नर-नारी हाथ में तिरङ्गा झंडा लिये—"महात्मा गांधी की जय," "जवाहरलाल नेहरू की जय," "आज़ाद भारत की जय", आदि नारे लगाते चले आ रहे थे।

उसे खयाल आया—आज पन्द्रह अगस्त है! आज़ादी का दिन!

आज के दिन ही भारत स्वतंत्र हुआ था, आज़ाद हुआ था। आज़ादी मिले सात वर्ष हो गये और इन्हीं सात वर्षों में उसका सब कुछ नष्ट हो गया—माँ मर गई, पत्नी मर गई और यह बच्ची भी अब मृत्यु के करीब पहुंच गई है।

उसे याद है—सन् ४७ के अगस्त की चौदह-पन्द्रह तारीख। आज़ादी की खुशी में पागल बना वह रोटी-पानी की सुध बिसरा कर दिन-रात अपने साथियों के साथ ऐसे ही नारे लगाते फिरा था। कितना खुश था, वह। क्या क्या तमन्नाएं नाच रही थीं उसके दिल में।

उस दिन उसकी पत्नी ने पूछा था—"आज बहुत खुश हो। कुछ तनख्वाह बढ़ गई है क्या?"

तब गर्व से सीना फुला कर उसने उत्तर दिया था—"औरतें बड़ी मूर्खा होता हैं। अरे भई! आज आज़ादी का दिन है। आज हमारा देश आज़ाद हो गया है। अंगरेजों ने हम को हमारा देश सौंप दिया है।

वह इतनी वड़ी बड़ी बाते न समझ पाई।

पुनः पूछा—"तो अब क्या होगा?"

तब उसकी मूर्खता पर वह खिलखिला कर हँस पड़ा था। ये औरतें केवल नौकरी, दाल, नून, तेल और लकड़ी के अलावा कुछ नहीं जानतीं-समझतीं। तब अपने राजनीतिक ज्ञान पर उसे बड़ा गर्व अनुभव हुआ था। उसने अपनी पत्नी पर अपने ज्ञानकी धाक जमाने के लिये, पिछली कई सभाओं में विभिन्न नेताओं द्वारा दिये गये भाषणों की, उन्हीं के शब्दों में नकल करते हुए कहा था—"पगली, अब देश आज़ाद हो गया है। अपने देशके भविष्य के हम स्वयं निर्णायक हैं। सब को रोजी-रोटी मिलेगी। देश के प्रत्येक नागरिक को खाना, कपड़ा, घर आदि मिलेगा। विदेशी हमें अब नहीं चूस सकेंगे। देश की दौलत देश में ही रहेगी। इससे हम बड़े बड़े काम करेंगे। आदि आदि।"

उसकी पत्नी इतनी बड़ी-बड़ी बातें कैसे समझ पाती। उसने केवल यही समझा कि रामधन—उसका पति—खुश है और चूंकि वह खुश है तो जरूर कोई अच्छी बात होगी।

लेकिन इस आज़ादी की कलई शीघ्र ही खुल गई। हक़ीकत स्पष्ट होकर सामने आ गई। बाजार में जैसे आग लग गई। प्रत्येक वस्तु का दाम बढ़ने लगा, जैसे सभी आवश्यक वस्तुओं की क़ीमतों पर आज़ादी का टैक्स जोड़ दिया गया हो। कीमतें बढ़ गईं लेकिन तनख़्वाह नहीं बढ़ी।

इस तनख्वाह में जब पहले ही काम नहीं चल पाता था तो इस बढ़ती मंहगाई में कैसे चल पाता? राशन उतने ही पैसों का लाया जाता था, जितना पहले। लेकिन वज़न में राशन कम आने

लगा। पहले भी एक जून भर पेट नहीं मिलता था। अब उसमें भी कमी हो गई। बच्ची के दूध में पानी ज्यादा मिलाया जाने लगा। दूध कम होता गया, पानी की मात्रा बढ़ती गई। बच्ची भूख से ज्यादा रोने-चिल्लाने लगी।

तभी माँ बीमार हुई और चल बसी। बीमारी में दवा तो क्या, दूध की भी व्यवस्था रामधन नहीं कर सका। एक बंद दवा, एक बूंद दूध रामधन अपनी माँ के लिये नहीं जुटा सका। आधा पाव दूध को कटोरे में डाल कर वह कई बार सोचने लगता कि दूध बीमार माँ को दें या बच्ची को। किन्तु किसके लिये ज्यादा आवश्यक है, वह निश्चय नहीं कर पाता।

माँ मर गई। वह माँ, जिसने अपने खून का दूध बनाकर उसे पिलाया था। उसे जिलाने के लिये उसकी माँ ने जाने क्या क्या नहीं किया होगा। उस माँ के लिये,रामधन कुछ न कर सका। वह केवल खोया-सा टुकुर-टुकुर अपनी माँ को ताकता रहता। लेकिन भीतर ही भातर उसका खून खौलता था और भाप के रूप में उसकी आँखों पर छा जाता और फिर मौका देख कर आँसुओं की शक्ल में बह जाता।

नेताओं की बड़ी बड़ी बातें उसे याद आतीं, जो अभी तक केवल भाषणों तक ही सीमित हैं। और जिनके कार्यरूप में परिणित होने की कोई आशा नहीं है। अपने राजनीतिक ज्ञान पर उसे आज दिली अफसोस है। उसकी पत्नी ज्यादा समझदार थी, जो आज़ादी की बात नहीं समझती, नेताओं की भाषा नहीं

समझती। वह समझती है, जानती है—सिर्फ तेल, नून, आटा, दाल आदि को।

माँ को मरे अभी दो वर्ष भी नहीं गुजरे होंगे कि पत्नी बीमार हो गई। बच्ची की माँ बीमार हो गई। दातव्य औषधालय के डाक्टरों ने बताया—"टी० बी० हो गई है।"

आखिर टी० बी० का क्या कुसूर? दिन भर शारीरिक श्रम, मानसिक चिन्ताएं और खाने को चौबीस घण्टों में केवल एक बार रूखी-सूखी दो रोटियाँ और कभी कभी वे भी नहीं।

उसे याद है—राशन के अभाव में एक दिन भोजन नहीं बना था। दूसरे दिन तनख्वाह मिलने वाली थी, लेकिन किसी वजह से नहीं मिल सकी थी। तब उस दिन शाम को पड़ोसी हरिचरन से थोड़ा सा आटा हथफेर लिया गया था। दो दिनों का भूखा रामधन खाने बैठा तो पाँचों रोटियां साफ कर गया। और मांगने पर उसकी पत्नी घुटनों में सिर छिपाकर सुबुक सुबुक कर बच्चों की भांति रोने लगी थी।

नारी के लिये इससे बड़े दुख-परिताप की बात और क्या हो सकती है कि उसका पति भूखा है, खाने को मांगता है, लेकिन वह न दे सके। आज तक रामधन के सामने उसकी पत्नी कभी नहीं रोई थी। हमेशा अपने भाग्य की सराहना करती थी। लेकिन उस दिन उसके धैर्य का बाँध टूट गया था। रामधन का हृदय आत्मग्लानि से भर उठा। जाने कितनी बार वह इसी

तरह सारी रोटियाँ खा जाता रहा होगा और उसकी यह पत्नी बिलकुल भूखी रह जाती होगी।

उसने दयार्द्र होकर कहा था—"अपने खाने के लिये रखकर ही तो मुझे देना चाहिये था। मैं तो पागल हूं, मुझे कम-ज्यादा का कुछ भान नहीं होता।"

तब आँसू पोंछते हुए उसने उत्तर दिया था—"मुझे बड़ी भूख लगी थी। इसलिये मैंने पहले ही भर पेट खा लिया है।"

रामधन जानता था, यह सब झूठ है। अपने पति को खिलाये बिना, वह कभी नहीं खाती। खा ही नहीं सकती। लेकिन अब और आटा कहाँ था जो उसकी बात को रामधन गलत ठहराता तथा फिर से बना लेने के लिये प्रेमपूर्ण आग्रह करता। वह चुप ही रहा और मन ही मन अपनी असमर्थता पर लज्जित होता रहा।

तो ऐसी औरत को टी० बी० न होना ही आश्चर्य की बात थी! स्टेप्टोमाइसिन के इन्जेक्शन्स, कुछ टानिक, दूध, फल, स्वच्छ, सुन्दर हवादार जगह, आदि की व्यवस्था करने की सलाह डाक्टर साहब ने बहुत धीरे धीरे गम्भीरतापूर्वक समझा कर दी थी। लेकिन रामधन इनमें से एक भी व्यवस्था नहीं कर सका। धीरे धीरे उसकी पत्नी ने पूर्ण रूप से खटिया पकड़ ली। और माँ की तरह ही वह भी दवा, दूध आदि के अभाव में अपने पति

रामधन की आँखों के सामने तड़प तड़प कर मर गई। रामधन कुछ न कर सका।

अब इस बच्ची का नम्बर है। अपनी माँ की तरह यह भी सूखकर कांटा हो गई है। इसके इलाज के लिये, वह दो सौ रुपये कर्ज़ ले चुका है। दो सौ रुपये! अपनी सामर्थ्य शक्ति के बाहर कर्ज़ लेकर उसने श्यामा को बचाने की कोशिश की। लेकिन अब वह परिस्थितियों से हार गया है। उसका मन हार गया है, उसका शरीर हार गया है। लगता है—अपनी माँ की तरह श्यामा भी अब शीघ्र ही उसे छोड़ कर चल देगी। तब वह अकेला रह जायगा इस संसार में—पूर्ण स्वतंत्र, पूरी तरह से आज़ाद।

उसके विचारों ने करवट ली—छिः अपनी बच्ची के सम्बन्ध में ऐसी अशुभ बात उसे नहीं सोचनी चाहिये। नहीं! नहीं!

तभी—

"बाबूजी! बाबूजी! कहां हो, तुम? मुझे बचाओ।" श्यामा ने चिल्लाकर उसके विचारों के क्रम को भंग कर दिया। रामधन लपक कर श्यामा के करीब हो गया। उसे अपनी गोद में उठा लिया। लेकिन श्यामा की यह अन्तिम पुकार थी, तेल के अभाव से बुझते दीपक की प्रदीप्त लौ थी।

अपनी गोद में पड़ी श्यामा की—अपनी बच्ची की—निर्जीव देह को कुछ क्षण अपलक, निश्चल, स्पंदहीन-सा वह देखता

रहा। फिर अचानक जोर से चिल्ला उठा—"मैं आज पूर्ण स्वतंत्र हूं, पूरी तरह से आज़ाद हूं। खुशी के नारे लगाओ। महात्मा गांधी की जय। जवाहरलाल नेहरू की जय। आजाद भारत की जय। हा .....हा .....हा ....."

बिन्दकी की बिन्दकी देवी

कल्पना कामिनी की कमर-सी बल खाती हुई टेढ़ी-मेढ़ी पग-डंडी तहसील के फाटक से बिन्दकी रोड़ स्टेशन को जाती है। बैल गाड़ियों पर पशुओं का चारा लादे गाड़ीवान भेड़ों की ऊन का देशी कम्बल सिर से पैर तक लपेटे ठिठुरते आ-जा रहे हैं। कभी कभी एकाध एक्का भी "चार आने सवारी" चिल्लाता गुजर जाता है।

बाल-रवि की रक्ताभ किरणों ने तहसील के भारी फाटक पर संकेत से मानो आग्नेय शस्त्रों से

लैस संतरी को द्वार खोलने के लिये कहा हो। तहसीलदार ठाकुर रामचन्द्र सिंह यों तो जाड़े के दिनों में कभी दस बजे से पूर्व बिस्तर नहीं छोड़ते, जबतक कि पूरब वाली खिड़की से सूर्य की तेज रश्मियाँ उनके कानों में जोर जोर से 'उठो उठो' नहीं चिल्लातीं। लेकिन कल बहुत रात गये मुझे सोते से जगाकर तहसील से बारह मील दूरस्थ भव्य, आलीशान, ऐतिहासिक बाग को सुबह दिखाने का वायदा कर गये थे।

तहसील से सुबह सात बजे चल देने का प्रोग्राम बना था। इसलिये चपरासी ने ठीक सात बजे तांगे के आ जाने की सूचना दी। फिर भी साढ़े आठ बजे बड़ी मुश्किल से तहसीलदार साहब तैयार हो पाये।

कच्चे और ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर तांगा चल पड़ा। अगल-बगल से गुजरनेवाले लोग तहसीलदार साहब को अदब से झुक झुक कर सलाम करते थे। इन सब से दूर, तहसील के गांव से दूर घने वृक्षों से आच्छादित सड़क की ओर मेरी दृष्टि जमी हुई थी। कलकत्ते के दम घुटा देने वाले वातावरण से दूर, उन्मुक्त प्राणदायक लुभावनी प्राकृतिक शोभा जैसे मुझे आत्म-विभोर बना रही हो।

तहसीलदार साहब मेरे बचपन के साथी हैं। कलकत्ते के विषाक्त वातावरण और कमर तोड़ देने वाली क्लर्की ने मुझे बीमार बना दिया था। ठाकुरसाहब के यहां आने का निमन्त्रण मिला और मैं चला आया—स्वास्थ्य लाभ करने।

स्वच्छन्द, उड़ती हुई चिड़ियों की चहचहाहट, कोयल की रसभरी तान, शक्ति के प्रतीक-से बड़े बड़े और फैले हुए विटप, विस्तृत खुले नीलाम्बर के नीचे लहलहाते खेत देखकर मेरा मन हर्षोल्लास से जैसे नाच उठा हो।

दूर तक फैले सरसों के खेत जैसे सारी पृथ्वी को पीतवर्णा बना देने की ठान ली हो! दृष्टि की पहुँच तक फैली हुई इस स्वर्णिम नदी पर सूर्य की चाँदी-सी रश्मियां पड़कर एक अजीबो-गरीब नज़ारा पेश कर रही थीं, जो अनुभव ही किया जा सकता है, व्यक्त नहीं। प्रकृति रानी के ऐसे ही लुभावने दृश्यों की शोभा देखने में तल्लीन, मैं उस वैभवशाली बाग के प्रवेश द्वार पर पहुंच गया।

बादशाह जहाँगीर ने यह बाग बनवाया था और बाद में वहां के एक हिन्दू ताल्लूकेदार को दे दिया। पुरानी नक्कासीदार चमकते हुए सफेद संगमरमर के चबूतरे और दुमन्जिला मकान। चारों तरफ फल-फूल के वृक्ष, तरतीबवार कटी हुई मखमल-सी मुलायम घास। सफेद स्वच्छ फव्वारे। छोटे-छोटे कुण्डों में नाचती-सी रङ्गबिरङ्गी मछलियाँ। यह सब मुगल कालीन बादशाहों की शानोशौकत और ऐश्वर्य की याद ताजा करती थी।

जिले के कलक्टर साहब अपनी लड़की के साथ वहां पहले से मौजूद थे। ठाकुर साहब अपने अफसर के साथ बातचीत में लग गये। बाग का माली हमें—मुझे और कलक्टर साहब की लड़की

रोज को—बाग के विभिन्न स्थलों के बारे में बताते हुए उत्तरी कोने की तरफ ले गया।

कोने में एक छोटा-सा मन्दिर बना हुआ था, जिसमें औरतों की भीड़ लगी थी। माली ने बताया की बिन्दकी देवी का मन्दिर है। इसमें मुसलमान और हिन्दू औरतें दर्शन करने, वर प्राप्त करने के लिये आती हैं और बहुतों की मुराद भी पूरी हो जाती है।

इस देवी की प्रचलित दन्तकथा बताते हुए उसने कहा कि बिन्दकी, गांव के एक ग़रीब ब्राह्मण की बेवा लड़की थी। भर-पूर जवानी में ही विधवा हो गई थी। गरीबी उसके सौन्दर्य को निखरने से रोक न सकी। ताल्लुकेदार की आँख उसपर पड़ी। बाग की कोठी में जब वह एक दिन गई, ताल्लुकेदार ने उसे पकड़ लिया।

राजा और प्रजा में बाप-बेटी के रिश्ते की दुहाई ने उसपर कोई असर नहीं किया। किसी भी तरह अपनी असमत बचा सकने में असमर्थ, बिन्दकी दुमंजिले से कूद पड़ी। उस समय मरने के बाद ऐसी औरतें गांव में देवी हो जाया करती थीं। ताल्लुकेदार पागल हो गया। लड़के ने गांव के आदमियों के अनुराध पर बिन्दकी देवी का मन्दिर बनवा दिया। कहते हैं—मन्दिर में आनेवालों की कामना पूरी हो जाती है।

हम प्रवेश द्वार की तरफ लौट पड़े। कलक्टर साहब और तहसीलदार साहब वहीं पर मौजूद थे। तांगे पर पैर रखते ही

शोर मचाती एक भीड़ ने हमें चौंका दिया, जो हमारी और ही बढ़ी आ रही थी। दो गबरू जवान एक नवयुवती को आगे आगे पकड़े लिये आ रहे थे। एक के हाथ में ताजे खून में सनी कुल्हाड़ी थी और उनके पीछे थी शोर गुल मचाती भीड़।

कलक्टर साहब और तहसीदार साहब को अदब से सलाम कर, कुल्हाड़ी वाले युवक ने कहा कि इस औरत ने इस कुल्हाड़ी से अपने मरद को मार डाला है।

भीड़ को नज़दीक आते देखकर अन्यमनस्क-सा मैं तांगे से पुनः उतर पड़ा।

मैंने सिर से पाँव तक उस औरत को देखा। भरे बादलों-से काले घुँघराले बाल जिसमें चाँदी से चमकते बालू के कण और खून के कुछ छींटे। चेहरे की सुन्दर बनावट। साँचे में ढला-सा गठा बदन। आँखों में करुणा के साथ एक विचित्र-सी चमक। फटे अस्त-व्यस्त कपड़ों पर यत्र-तत्र खून के दाग और खून में सने हाथ।

पर उस घोर देहात में जहाँ अब भी पत्नी अपने पति को भगवान मानती है, कैसे···कैसे···?

मेरे विचार-क्रम को धक्का लगा। ठाकुर साहब ने पूछा—"तुमने अपने मरद को मारा है?"

अपनी खोयी-सी आँखों से तहसीलदार की तरफ देखते हुए बिना डरे स्वाभाविक ढंग से उसने उत्तर दिया—"हां"।

बाद के सभी प्रश्नों पर वह निरुत्तर रही, स्पन्दनहीन-सी,

चुपचाप। कलक्टर साहब मौजूद नहीं होते तो सम्भवतः अपनी बात का उत्तर न पाने पर क्रोधित हो ठाकुर साहब उसे पीटते।

कलक्टर, ठाकुर साहब के कान में कुछ कहकर जल्दी से मोटर में बैठकर चले गये। मिस रोज ठाकुर साहब के साथ वहीं रह गई। ठाकुर साहब ने उस खूनी औरत को एक ठोकर लगाते हुए चपरासी को हुक्म दिया—"इसे तांगे पर बैठाकर ले चलो।"

न जाने मेरे मन में, खूनी होने के बावजूद उसने सहानुभति पूर्ण स्थान क्यों बना लिया था ?

मैंने ठाकुर साहब से ठोकर मारने का विरोध किया।

मिस रोज ने भी मेरा समर्थन किया।

एक तांगे में वह औरत, चपरासी और उसी गांव का एक युवक बैठे तथा दूसरे पर मिस रोज के साथ हम। मेरे पूछने पर ठाकुर साहब ने बताया कि रास्ते में पुलिस चौकी है। वहीं इसे थानेदार को सुपूर्द कर देंगे। अब मेरा मन उस खूनी औरत को ही केन्द्रबिन्दु बनाकर सोचने लगा। विभिन्न विचार मेरे मानस पट पर क्षणभर के लिये अंकित हुए और नष्ट हो गये।

मेरी समझ में नहीं आता था, मैं क्यों उसके लिए अचानक इतना चिन्ताशील हो उठा हूं। बार-बार मेरा मन कहता था—

"वह खूनी नहीं है," "वह खूनी नहीं है" और तभी वह उसका संक्षिप्त, संयत-सा उत्तर मुझे याद आता था—"हाँ"।

अन्त में मैं अपनी उत्सुकता पर विजय न पा सका और ठाकुर साहब से दूसरे तांगे में बैठने की इज़ाजत प्राप्त कर ली। मालूम होता था, मिस रोज भी उसके बारे में जानने को उत्सुक थी और इसीलिये अपने पिता के साथ मोटर में न जाकर पेट में दर्द पैदा कर देनेवाले इस तांगे में बैठना गवारा किया था। उसने भी उस औरत के तांगे में बैठने की इच्छा जाहिर का। हम दोनों तांगे में उस खूनी औरत के अगल-बगल बैठ गए।

उसकी भावहीन आँखें अपने गांव की ओर लगीं थीं। मालूम होता था जैसे किसी का इन्तजार कर रही हो या कोई अत्यन्त प्रिय, प्राणों से भी प्रिय-वस्तु छूट गई हो। कुछ देर मैं उसकी ओर देखता रहा।

फिर पूछा--"क्या सचमुच तुमने अपने पति का खून किया है?"

जैसे सोते से जगी हो, अकचका कर उसने मेरी तरफ देखा। फिर कुछ देर सोचती रही। दुबारा प्रश्न करने पर वह बोली—"का करिहो बाबू जानकर?"

मिस रोज के जोर देने पर उसने जो कुछ कहा, वह था—"पाँच वर्ष पूर्व उसकी शादी हुई थी। तीन चार बीघे की खेती थी। दिनभर कठिन श्रम, रात को खाना, पीना और आनन्द। बड़े मजे के दिन थे। दो वर्ष लगातार सूखा पड़ गया। सभी वस्तुएं खरीदनी पड़ने लगीं। बनिये का कर्ज बढ़ता गया। खेत

कुड़क हो गये। वे दाने-दाने को मुहताज़ हो गये। गांव में मजदूरी भा मिलनी मुश्किल हो गई। एक जून मुश्किल से खाने का इन्तजाम हो पाता।"

"आज भूखे रहते चौथा दिन है। कल उसका मरद शहर गया था—मजदूरी की खोज में। रात को वह नहीं लौटा।"

"गांव के कई शोहदों ने सहायता के बदले कुत्सित प्रस्ताव रखे, जिनमें मुख्य था—चौधरी का लड़का रतन।"

"लेकिन उसने भूख से मर जाने का निश्चय कर लिया था। परन्तु तीन वर्ष के बच्चे को वह कैसे समझाये। पिछले दो दिनों से उसके मुँह में भी अन्न का एक दाना नहीं गया था।"

"रात से आज दिन बारह बजे तक वह "माँ भूत लदी है","माँ भूत लदी है", "लोटी दो, लोटी दो" चिल्लाता रहा है। उसे लगा जैसे झोंपड़ी की दीवारें, आकाश, पृथ्वी सभी से उसके बच्चे की आवाज प्रतिध्वनित होकर आ रही है। अन्त में मातृत्व ने स्त्रीत्व पर विजय पाई। आर वह चल पड़ी, रतन के घर की ओर—विक्षिप्त-सी।"

"रतन के साथ तुरन्त ही वह दूध लेकर लौटी आ रही थी। शहर से उसका मरद भी इस बीच आ गया था। कई आदमियों ने—जो उसे रतन के घर की तरफ जाते देखा था—उसके मरद को नमक-मिर्च लगा कर बताया। झोंपड़ी के पास पहुंचते ही उसके मरद ने रतन के ऊपर लाठी का प्रहार किया। प्रहार विफल रहा। झोंपड़ी के बाहर लकड़ी काटने की कुल्हाड़ी रखी

थी। रतन ने लपक कर उसे उठा ली और उसके मरद पर वार किया। सिर के दो टुकड़े हो गये। उसके पति का देहान्त हो गया।"

इतना कह कर वह चुप हो गई।

मैंने पूछा—"तो तुमने तहसीलदार साहब से सच्ची घटना क्यों नहीं बयान की?"

कुछ देर वह सोचती-सी बैठी रही और फिर विस्फारित नेत्रों से मेरी और देखते हुए बोली—"बाबू! मैं अब जीना नहीं चाहती। मरद के मरने के बाद तिरिया के जीने की कोई जरूतर भी नहीं है।"

मिस रोज की बारी थी।

उसने कहा—"अपराधी को सज़ा मिलनी चाहिये। तुम सारी बातें साफ-साफ अपने बयान में बोलो। अपने 'पापा' से कहकर हम उसे जरूर सज़ा दिलाएगा।"

उसने नकारात्मक सिर हिलाते हुए कहा—

"मैं ऐसा नही चाहती। उस पापी कुत्ते को मैं ज़िन्दा रखना चाहती हूं, ताकि वह फिर किसी अभागिन "माँ" की ऐसे मौके पर मदद कर सके।"

मैं और मिस रोज हत्बुद्ध से उस देहाती, गँवार औरत को कुछ क्षण देखते रहे। माँ का असीम, अनुपमेय प्यार, साकार मूर्तिमान होकर मेरे सामने नाच उठा। मेरा मन श्रद्धा से इस 'माँ' के चरणों पर लोटने लगा।

मिस रोज ने पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है?"

"बिन्दकी" उसने उत्तर दिया।

मैं चौंक पड़ा। मेरे सामने बाग की बिन्दकी देवी साकार हो उठी। आज की बिन्दकी देवी यह 'माँ' है या बाग की वह प्रस्तर मूर्ति?

हमराही

आज रात एक बजे स्वरूप अपनी पत्नी शीला की हत्या करेगा !

रात एक बजे ! सीता-सावित्री की हत्या, अपनी पत्नी की हत्या, जिसके साथ उसकी कितनी ही रंगीन रातें गुजरी हैं। चाँद की मधुर, शीतल छाया में, जिसके काले-काले बालों के साथ अँगुलियों से खेलते हुए वह कितनी ही बार घंटों दुनियाँ से दूर होकर सुख की कल्पनाओं में खोया रहा है।

उसी की हत्या करेगा वह ! आज रात एक बजे !

शुक्ल-पक्ष की चाँदनी अपनी मधुरता के साथ अग-जग के प्राणी मात्र को शीतलता प्रदान कर रही होगी। युगल प्रेमी स्निग्ध चाँदनी में क्रीड़ा-रत होंगे। विरहिन अपने प्रेमी की याद में चाँद की ओर चकोर की तरह टकटकी बांधे देख रही होगी और अपना संदेश अपने दूर गये बालम तक पहुँचा देने का प्रार्थना करती होगी। या सारी दुनियां चाँद की मधुर छाया में दिन भर के श्रम के बाद सुख की नींद सो रही होगी।

ऐसे समय में स्वरूप अपनी पत्नी की हत्या करेगा!

वह एक लेखक है। जनता के लिये लिखता है। उसकी लेखनी में युग का संदेश रहता है। प्रसिद्ध और माना हुआ लेखक होने के बावजूद वह अपनी एक मात्र आश्रिता-पत्नी को एक जून सूखी रोटी और फटा-पुराना वस्त्र भी मुहय्या नहीं कर पाता।

हम दोनों ने एक साथ ही कालेज से डिग्री हासिल की थी।

कालेज में ही उसे काफी शोहरत प्राप्त हो चुकी थी। अब तो जैसे कोई पत्र-पत्रिका उसकी कहानी या लेख के बिना प्रकाशित ही नहीं हो सकती। कालेज से निकलने के बाद उसने अपना जीवन लेखन-कला के चरणों में अर्पित कर दिया और मैंने एक दफ़्तर में क्लर्की आरम्भ कर दी।

स्वरूप के जीवन में इस शीला के आने की भी एक विचित्र-सी घटना है। स्वरूप शादी नहीं करना चाहता था। समाज में रहकर इस सामाजिक मान्यता का वह कतई विरोधी

हो, यह बात नहीं। बल्कि इस जीवन के कटु अनुभव ने उसे बता दिया था कि वह स्त्री को खुशहाल नहीं रख सकेगा।

तो फिर वह किसी का जीवन क्यों बर्बाद करे?

स्वरूप के माँ-बाप बचपन में ही गुज़र गये थे। पड़ोस की एक पुत्रहीना बेवा ने तरह-तरह के दुख-कष्ट झेल कर स्वरूप को पढ़ाया-लिखाया।

शीला की माँ जब मरने लगी, स्वरूप को बुलाया। शीला के हाथ को स्वरूप की ओर बढ़ाते हुए उसकी माँ ने एक ऐसी याचना पूर्ण दृष्टि डाली, जैसे वह अपने तमाम उपकारों का इस रूप में बदला चाहती हो। कोई भी इन्सान वही करता जो स्वरूप ने किया।

स्वरूप ने शीला को पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया। और इस तरह न चाहते रहने पर भी यह शीला उसके जीवन में आ गई।

तो इसी शीला की स्वरूप आज रात एक बजे हत्या करेगा!

कुछ दिन पहले, मेरे दफ्तर के मैनेजर ने अपनी लड़की को पढ़ाने के वास्ते एक मास्टर के लिये कहा था। मेरे पढ़ाने पर कुछ मिलने की आशा नहीं थी।

सोचा—स्वरूप को पूछ देखूं। मैनेजर को काफी लम्बी तनख्वाह मिलती है इसलिये अच्छे पैसे भी देगा, ऐसी उम्मीद थी।

मैं स्वरूप के घर गया। कमरे का दरवाजा भीतरसे बन्द था। मैंने कुन्डी खटखटायी। कोई आवाज नहीं। फिर खटखटायी।

कोई आवाज नहीं। मैं पशोपेश में पड़ गया। भीतर कोई है नहीं तो दरवाजा क्यों बन्द है। और अगर है तो खटखटाने पर भी खुलता क्यों नहीं है। कुछ देर खड़ा सोचता रहा। अनेक आशंकाएं मेरे मन-प्राण पर छाने लगीं। मैं अधिक तीव्रता से कुंडी खटखटाने लगा। एक धीमी, बीमार की-सी आवाज आयी —"कौन हैं? वे बाजार गये हैं।"

आवाज शीला की ही थी। मैंने सन्तोष की साँस ली।

उत्तर में कहा—"तुम्हारा श्यामू है भाभी! दरवाजा खोलो!"

थोड़ी देर निष्तब्धता छायी रही।

फिर शीला ने धीरे धीरे कहा—"मैं उन्हें आपके पास भेज दूंगी।"

इसका साफ साफ मतलब था—मुझे चले जाना चाहिये। दरवाजा नहीं खुलेगा।

मुझे बड़ा दुख हुआ। स्वरूप और शीला को मैं अपने आत्मीय से कम नहीं समझता हूं। हमारे बीच कभी किसी प्रकार का पर्दा नहीं रहा है। फिर यह आज अनात्मीय-सा व्यवहार क्यों? शीला ने दरवाजा क्यों नहीं खोला? क्या वह अस्वस्थ थी? अगर अस्वस्थ थी तो दरवाजा खोलने में क्या हर्ज था?

सवेरे तड़के ही स्वरूप ने जगाया। शीला की ओर से माफी

माँगते हुए कहने लगा—"अब तुमसे क्या छिपाना है, भाई ! उसके पास एक ही साड़ी है। कई बार सोचा, एक तो और खरीद दूं। लेकिन मजबूरी ! दोनों समय खाने की ही व्यवस्था नहीं कर पाता। साड़ी कहां से लाऊं ?"

"हाँ, तो कल उसने अपनी साड़ी धोकर कमरे के भीतर ही सुखा दी थी ताकि मेरे पहुंचने तक सूख जाय। उसे क्या पता था कि इस बीच तुम पहुंच जाओगे।"

स्वरूप ने अपने मुख पर जबरन मुस्कराहट खींच लाने का एक असफल चेष्टा की और इस प्रयास में उसके अन्तर की सारी वेदना उसके चेहरे पर उभर आयी।

वह फिर बोला—"यह हालत हम-तुम तक ही सीमित नहीं है भाई ! देश की प्रत्येक शीला का यही हाल है। खाने को अन्न नहीं। लज्जा-निवारण के लिये वस्त्र नहीं। यह एक हक़ीकत है। एक अपमानजनक हक़ीकत !

मुन्ना की माँ ने चाय के दो गिलास हमारे सामने रख दिये। बात यहीं खत्म हो गई।

करीब दो मास बाद, आज फिर स्वरूप से राह में मुलाकात हो गई। मैं दफ्तर से लौट रहा था। वह तेजी से एक ओर जा रहा था। मेरे पुकारने पर नजदीक आकर बिना किसी भमिका के कहने लगा—"शीला को मैं अन्न-वस्त्र और बीमारी के

समय मामूली दवा के अभाव में प्रति दिन तड़पते नहीं देख सकता। इसलिये मैंने फैसला किया है कि आज रात एक बजे मैं.....मैं.....शीला...की...हत्या.....

और पागल की तरह एक ओर जल्दी से चल दिया।

मैं उसके बढ़े हुए सिर के बाल, दाढ़ी, फटा और गंदा पायजामा, चिथड़ा-सा कुर्ता और टूटी चप्पल की ओर उलझा हुआ था। अचानक "शीला की हत्या" शब्दों ने मुझे चौंका दिया! उससे कुछ पूछूं, इसके पहले ही वह जा चुका था। उसके घर गया। कमरे का दरवाजा खुला था। शीला को बड़ा तेज बुखार था। घर में दवा-पानी का कोई इन्तजाम न था। मालूम हुआ, स्वरूप सबेरे घर से निकलता है और रात को जाने कब आता है।

आज अभी किसी काम से आया था। शीला को बुखार में बेखबर पड़े देखा। थोड़ी देर वह शीला के पास बैठा रहा। शीला को जब होश आया, उसने स्वरूप को पागलों की भाँति बाहर भागकर जाते देखा।

किताब के पन्ने की तरह सारी बात स्पष्ट हो गई। स्वरूप की इन्तजार में कुछ देर बैठा भी रहा और फिर सोचा—दुख के आवेग में आदमी क्या नहीं कह देता। वस्तुतः वह शीला की हत्या नहीं कर सकता।

रात बारह बजे मेरी नींद खुल गई। मेरा अन्तर्मन प्रश्न कर उठा—"क्यों नहीं मैं स्वरूप के घर थोड़ी देर और रुक गया?"

दुख और अभाव से पागल होकर पति द्वारा पत्नी की, पिता द्वारा बच्चों की हत्या करने का समाचार आये दिन अखबारों में छपता है। अगर स्वरूप भी शीला की हत्या करे तो? तो··· तो। हो सकता है वह ऐसा करे।

घड़ी में रात के बारह बजे!

एक घण्टे बाद!

रात के एक बजे स्वरूप, शीला का खून कर देगा। शीला की लतिका-सी देह खून में लथ-पथ फर्श पर पड़ी होगी। काली-घटा से भी अधिक काले उसके बाल, उसके चाँद से मुखड़े पर छा जायेंगे। जैसे चाँद बादलों में छिप गया हो। उसकी लज्जा-निवारण का एक मात्र साधन--वह साड़ी—अस्त-व्यस्त हो गई रहेगी। ऐसे मौके पर मैं पहुंच जाऊं तो दरवाजा बन्द कर मुझे लौट जाने को नहीं कहेगी। प्रति दिन के अभाव की समस्या से वह दूर हो जायेगी। अन्न की आवश्यकता नहीं रहेगी। लज्जा-निवारण के लिये वस्त्र की भी जरूरत नहीं रहेगी।

स्वरूप भागेगा नहीं। स्वयं गिरफ्तार हो जाएगा। दूसरे दिन अखबारों के पन्ने इस खबर से रंगे रहेंगे।

जज के सामते स्वरूप बयान देगा--"हां, मैंने अपनी पत्नी की हत्या की है। मैं लिखता हूं, लिखना मेरा पेशा है। मैं एक लेखक हूं, इस महान देश की राष्ट्र-भाषा का, जो पैंतीस करोड़ जीवित व्यक्तियों की, गांधी के देश की राष्ट्र-भाषा है।

मेरी तारीफ होती है। मेरी रचनाओं की प्रशंसा में लम्बे-लम्बे पत्र छपते हैं। अखबारों और प्रकाशन संस्थाओं के मालिक धीरे-धीरे आलीशान इमारतों तथा खूबसूरत मोटरों के मालिक भी हो गये हैं। लेकिन मुझे पारीश्रमिक नाम मात्र को मिलता है। वह भी चार-छः महीनों बाद। उतने ही पैसों की पोस्टेज स्टाम्प खर्च करने के बाद। लगता है—लेखक की आवश्यकता आवश्यकता नहीं। मैं स्वयं तकलीफ उठा सकता हूं। लेकिन अपनी पत्नी को अन्न-वस्त्र के लिये और बीमारी के समय साधारण दवा के अभाव में तड़पता नहीं देख सकता था। इसलिये.... सिर्फ इसलिये मैंने अपनी पत्नी.....

घड़ी ने एक बजा कर जैसे मेरी कल्पना को ब्रेक लगा विश्रृंखल कर दिया हो।

मैं चौंक कर खड़ा हो गया। आज की रात का एक बज गया! ओह! एक .. बज गया।

बिना कपड़ा बदले उसी तरह स्वरूप के घर की ओर चल पड़ा। राह में क्षण-क्षण पर विभिन्न आशंकाएं मेरा गला दबा लेती थीं और मैं सहमा-सा, बिना प्रतिवाद किये प्रत्येक आशंका पर अपनी गति तेज करता जाता था।

मैं पहुंच गया उसके घर। स्वरूप के कमरे की एक खिड़की गली में खुलती है। लालटेन की रोशनी उससे छन बाहर आ रही थी। मेरा मन काँप उठा।

रात के एक बजे! और लालटेन की रोशनी! जरूर कोई

घटना घटी है। नहीं तो इस समय आराम के वक्त रोशनी की क्या आवश्यकता ?

मेरे सांस की गति तीव्र से तीव्रतर होती गई। भयानक दृश्य देखने की आशंका से हृदय की प्रत्येक धड़कन पर मालूम होता था, अब गिरा; तब गिरा। मकान के अन्दर जाने पर दूर से ही कमरे का दरवाजा खुला देखा।

रात के एक बजे ! लालटेन का प्रकाश ! और कमरे का दरवाजा खुला हुआ ! अब आगे बढ़ने की हिम्मत साथ छोड़ने लगी। समस्त साहस बटोर कर एक झटके केसाथ, एक लहमे में मैं कमरे के दरवाजे पर पहुंच गया।

स्वरूप और शीला एक दूसरे के बाहुपाश में आबद्ध खड़े थे। तन्मयता ने मेरी उपस्थिति का भान उन्हें नहीं होने दिया। बिजली की-सी तेजी के साथ मैंने अपना कदम पीछे हटा लिया और एक क्षण उसी जगह स्थिर खड़ा रहा।

आवाज आ रही थी।

शीला बोल रही थी—"इतनी रात तक कहां रहे ?"

स्वरूप ने उत्तर दिया—"सड़कों पर घूमता....."

शीला उसे बीच में ही रोक कर बोली—"आखिर मन खराब करने से क्या फायदा ? इतनी इतनी रात को बिना खाए-पिए तुम....."

शायद शीला की आँखें भर आईं थीं। आवाज रुद्ध हो गई

थी। वह धीरे-धीरे बोली—"मैं मर क्यों नहीं जाती? भगवान मुझे उठा क्यों नहीं लेता?"

"शीला" !—स्वरूप जैसे चीख उठा हो।

शीला के आँसू पोंछते हुए स्वरूप बोला—

"ऐसा न कहो! तुम्हारा साथ मुझे दुगुनी शक्ति देता है। तुम मेरी हम-कदम हो, हम राही हो। हम साथ साथ, कदम से कदम जोड़े, कंधे से कंधा मिलाये अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष करते हुए आगे बढ़ सकते हैं ...."

"अरे! तुम इतनी रात को?"—स्वरूप ने मुझे देख लिया था। मुझे कमरे में ले गये। स्वरूप अपनी सफाई देने लगा—

"क्या करूं भाई! परीशानी से मन झुंझला उठा था। इसी-लिये कह दिया था कि·····

"बस बस रहने दो"—शीला ने रोका।

और हम सब हँस पड़े। उन्मुक्त, जीवन की प्रतीक जैसी हँसी! इस हँसी में जैसे ज़िन्दगी नाच उठी हो।

प्रकाश की ओर

वह मुलायम बिछौना जैसे जुगिन्दर कौर का कोमल लतिका सी देह को छीलता रहा हो। उसके अन्तर में थोड़ी थोड़ी देर से आँधी-सी उठती रही है, जो उसकी रग-रग को, सारी रक्त-शिराओं को, सारे अवयवों को उद्वेलित करती रही है। मस्तिष्क के निर्मम, निष्ठुर विशाल अंकुश के नीचे दबी, सोई, दफ़ना दी गयी तमन्नाएं, आकांक्षाएं जैसे कसमसाने लगी हों, अंगड़ाई लेने लगी हों। एकाकी चिनगारी के ऊपर की ढेर राख को जैसे हवा

के प्रबल, प्रबलतर, प्रबलतम होते झोंको ने उड़ा कर दूर फेंक दिया हो और चिनगारी स्पष्ट रूप से उभर आयी हो। इस चिनगारी ने बढ़कर भीषण अग्नि का रूप ले लिया। उसका अन्तर जलने लगा, आत्मा जलने लगी, कलेजा धू-धू कर जल उठा।

चूंकि धूंए के लिये बाहर प्रशस्त मार्ग नहीं था, अन्दर ही वह जमा होता रहा। इससे उसका दम घुटने लगा। इस घुटन और जलन से त्राण पाने के लिये कई बार पलंग से उठ कर वह चहलकदमी करने लगी है, कई बार उसने पानी पिया है—शायद कुछ ठंडक मिले, शायद कुछ शान्ति मिले, शायद कुछ राहत मिले। लेकिन जलन था जो बुझने का नाम नहीं लेती थी। घुटन थी जो दामन छोड़ना नहीं चाहती थी।

उसने मशहरी दूर कर दी। उठकर खिड़की के पास जाते-जाते अचानक चौंक कर एक क्षण के चौथाई हिस्से तक टकटकी बांधे, निश्चल, निस्पन्द-सी वह खिड़की के शीशों की ओर देखती रह गयी। देखती रही इसलिये कि सुबह हो रही थी।

सुबह आ रही थी; जग में प्रकाश फैलाने, लोगों की सोयी खुशियों और तन्द्रिल-सी भावनाओं को झकझोर कर जगाने। प्रकाशपुञ्ज सूरज के स्वागत में ऊषारानी नयी सजधज और अपनी स्वाभाविक अरुणिमा के साथ उपस्थित हो गयी थी। यह लालिमा सारे अग-जग पर छा गयी थी। खिड़की के शीशों पर भी यह लालिमा छायी हुई थी।

किन्तु जुगिन्दर को लगा—जिस तरह उसके अन्तर में आग लगी हुई है, उसका कलेजा जल रहा है, उसी तरह सारी पृथ्वी जल रही है, आकाश में आग लग गयी है और उसकी लपटें चारों तरफ उठ रही हैं, इस खिड़की को भी छू रही हैं।

दूसरे ही क्षण स्वयं उसे अपनी इस अनोखी कल्पना पर आश्चर्य होने लगा। फिर जैसे वह स्वयं से ही प्रश्न कर उठी हो—

"पागल तो नहीं हो गई है वह? स्वप्न तो नहीं देख रही है वह?"

अपने हाथ की अंगुली को उसने दांतों से काटा। पीड़ा उसे अनुभव हुई। पीड़ा ने उसे बताया—

"पागल वह नहीं है। स्वप्न भी वह नहीं देख रही है और उसके होशोहवास भी दुरुस्त हैं।"

इस तरह सारी सारी रात आँखों में गुज़ारना। इस तरह विचारों के झंझा को सहना. मन-प्राण में असह्य वेदना अनुभव करना, उसके लिये कोई नई बात नहीं थी। पिछले वर्षों में जाने कितनी लम्बी-लम्बी भयावनी रातें उसने अपनी आँखों में काटी हैं। पहलू में सिसकते, आहें भरते दिल पर अंकुश रखने के प्रयत्न में वह खुद सिसकने लगी है। बड़ी-बड़ी आँखों में ज्वार जैसा कुछ आ गया है और·····

लेकिन अब ऐसा बहुत कम होता है। हां, बहुत ही कम! क्योंकि उसने अपने आपको जीत लिया है, अपने आप पर क़ाबू पा लिया है। दिल को अपने मस्तिष्क के विशाल अंकुश के नीचे दबा लिया है, दफ़ना दिया है। कम-से कम वह ऐसा ही समझती है।

जुगिन्दर के अपने चाचा हैं—कर्नल किशन सिंह। बड़े भाई की मृत्यु के बाद नौकरी छोड़ कर कपड़े की मिल संभालते हैं। उम्र साठ से एक दिन भी कम नहीं, लेकिन शरीर से हृष्टपुष्ट। आसूदगी चेहरे से टपकी पड़ती है। आराम के साधनों की प्रचुरता चिकनाई और चरबी को कस कर पकड़े हुए है। गुस्सा जैसे नाक पर धरा रहता है, बात बात पर रिवाल्वर निकाल लेते हैं। सामन्तयुगीन यूरोपीय सभ्यता के प्रतीक हैं। अँग्रेजी बोलते हैं। अँग्रेजी सुनना पसन्द करते हैं।

कर्नल का खानदान बहुत ऊँचा है। नाम बहुत बड़ा है। भरी जवानी में बेवा होने पर भी उनके खानदान की लड़कियां दूसरी शादी की कल्पना करना भी गुनाह समझती हैं। ऐसा कर्नल साहब खुद कहते हैं।

कर्नल साहब ने अपनी चौथी शादी अभी की है। यही पिछले सप्ताह। जुगिन्दर की यह नई 'आँटी' उम्र में उससे दो-चार साल छोटी ही है। ये लोग काश्मीर में 'हनीमून ट्रिप' पर हैं। जुगिन्दर की सेहत ठीक नहीं रहती। काश्मीर की आबोहवा शायद उसके माफिक पड़ जाय, इसलिये उसे भी साथ

में ले लिया गया। इन तीनों के अलावा पार्टी में कर्नल का पी० ए० चन्दर है, कुक है और बैरा है।

काश्मीर में आये अभी दो-तीन दिन ही बीते होंगे। पहल-गांव बस्ती से थोड़ी दूर पर स्थित पहाड़ी पर घुड़सवारी की जा रही थी। कर्नल और 'आँटी' आगे थे और उनसे कुछ कदम के फासले पर जुगिन्दर और चन्दर।

शमशाद, चील और देवदार के ऊँचे-ऊँचे पेड़ों के बीच से उँची नीची, बलखाती-सी यह पहाड़ी सड़क बड़ी भली मालूम होती थी। थोड़ी-थोड़ी दूर पर चमकते-से चश्मे, नाचते-से नाले और झरने, और सुरम्य घाटियाँ पड़ती थीं। इनमें विहँसते-से गुलाब, मक्खन-प्याले, गुट्टा और मखमली फूल खिले थे—सफेद, गुलाबी, पीले। कहीं-कहीं नरगिस के तख्ते बंधे थे। इन फूलों की तरह ही खूबसूरत, कवि की उपमा-सी आँखों वाली काश्मीर की युवतियां पास के खेतों में काम करती थीं। एक क्षण के लिये नज़र ऊँची कर इस पार्टी को देख लेतीं और अकारण हँस पड़तीं। एक खूबसूरत, जवान और फूलों जैसी हँसी! यह जवान और खूबसूरत हँसी जैसे यहां के बाशिन्दों के जीवन में घुलमिल गयी हो, उनके जीवन का जरूरी अङ्ग बन गयी हो।

एक जगह, एक युवक और युवती नरगिस के तख्ते से फूल तोड़ रहे थे। अचानक दोनों खिलखिला कर हँस पड़े—प्यार भरी, उन्मुक्त और स्वच्छन्द हँसी!

सारा वातावरण, सारी फिज़ाँ जैसे हँसने लगी हो। जुगिन्दर

की इच्छा हुई—वह भी हँस दे, कम से कम मुस्करा तो दे। लेकिन कोशिश करने पर भी, वह हँस नहीं सकी। जैसे उसके होठों को मुस्कराना आता ही न हो।

बंगले से चले थे, तब धूप निखर रहा थी। अचानक काले काले जलभरे बादलों की एक टुकड़ी ने छापा मारा। तेज, बर्फीली हवा के साथ जोरों की बारिश ने हमला कर दिया। जुगिन्दर और 'आँटी' को ज्यादा सर्दी अनुभव होने लगी।

कर्नल ने अपने पोनी को रोक लिया और अपना कोट उतारते हुए 'आँटी' से कहा—

"मोनी डार्लिंग ! यू मस्ट बी फीलिंग कोल्ड। हैव इट डीयर !"

'आँटी' ने इनकार कर दिया—

"थैंक्स डार्लिंग। बट आई···म ऑराइट।"

'आँटी' को जबरदस्ती कोट से ढकते हुए कर्नल साहब बोले—

"ह...म...नो डार्लिंग, नो माई लिट्ल वन, इट विल हार्म यू। वीयर इट डार्लिंग ! फार माई से···क···माइ लव...।

'आँटी' ने मुस्कराते हुए कोट पहन लिया। वे आगे बढ़ गये।

जुगिन्दर अपने पोनी को आगे न बढ़ा सकी। उसके दिल की हरक़त तेज हो उठी। उसके अन्तर में एक भयानक हलचल पैदा हो गयी थी, तूफान आ गया था। सोया सागर जैसे भीषण

ध्वनि के साथ जाग उठा हो। सारा जल जैसे फेनिल हो उठा हो। बेगवती उत्ताल तरङ्गें जैसे आज सारे बन्धनों को तोड़ डालने का निश्चय कर चुकी हों। जैसे आज कोई मर्यादा उन्हें रोक न सकेगी। उसके मन का बांध एक क्षण के लिये टूट भी गया—

"काश, उसे भी कोई डार्लिंग कहता! काश, उसे भी कोई काट के लिये वाध्य करता! काश,.....

चन्दर पहले तो आगे बढ़ गया, लेकिन फिर पोनी को एंड़ लगाकर वापस जुगिन्दर के पास आ गया। जुगिन्दर के चेहरे पर उभरते भावों को पढ़ने की कोशिश करने लगा। उसके दिल की तेज हुई हरकत को, धड़कन को सुनने की और उसका आशय समझने की कोशिश करने लगा। घोर अन्धेरी रात में पथभ्रष्ट पथिक के सामने बिजली चमक कर जैसे रास्ता दिखा देती है, ठीक वैसे ही एक बिजली-सी उसके दिमाग में कौंध गयी। जैसे वह सब कुछ समझ गया हो, सब कुछ!

एक क्षण उसने उस पर विचार किया। और फिर जैसे उसने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया हो, अपना भारी कोट उतार कर जुगिन्दर के कंधों पर रख दिया। एक क्षण के उस स्पर्श से दोनों सिहर उठे। इस एक क्षण में आदम और हौवा से आज तक की श्रृष्टि का रहस्य तड़प उठा, ज़िन्दगी ने सब कुछ कह दिया, जवानी मुस्करा उठी।

चन्दर ने कहा—"आप इस कोट को पहन लीजिये, जुगिन्दरजी !"

जुगिन्दर चौंक उठी।

आज पहली बार उसने चन्दर की ओर आँख उठाकर देखा—

स्वस्थ, सबल देह। छरहरा शरीर। बोलती-सी आँखें। शायद ज्यादा अध्ययन के कारण थोड़ा पीलापन-सा लिये उन्नत ललाट। और.....

एक मधुर पुलक उसके मन-प्राण पर छा गयी! एक अज़ीब-सी, अनोखी-सी, अपरिचित-सी सुखद सिहरन उसके सारे शरीर में व्याप्त हो गयी। हर्ष और विषाद, खुशी और दुख दोनों परस्पर विरोधी भाव उसके मनमें एक दूसरे पर हावी होने का प्रयत्न करने लगे। उसकी बड़ी बड़ी आँखों के कोनों में मोती-से अश्रु अटक कर रह गये। उसके अधर एक मीठी-सी मुस्कान से थोड़े फैल गये। खुशी, हर्ष और मुस्कराहट इसलिये कि वह एक रंगीन ख़्वाब देख रही थी। एक हसीन ख़्वाब! विषाद, दुख और आँसू इसलिये कि कितना ही रङ्गीन और हसीन हो, है तो आखिर यह ख़्वाब ही। इस ख़्वाब की ज़िन्दगी कितनी है? वखत क्या है? और फिर हकीकत? अंजाम? और.....

कुछ दिनों बाद।

रात का खाना खाकर जुगिन्दर सोने का उपक्रम कर रही

थी। तभी होटल का बैरा ख़त दे गया। ख़त चन्दर का था। लिखा था—

प्रिय जुगिन्दर जी,

चाहता था, सम्मुख ही बात करूं। कई बार कोशिश भी की, किन्तु लगा जो कहना चाहता हूं, ठीक से कह नहीं सकूंगा। इसलिये लिख रहा हूं।

खैर, मैं सीधे-सादे शब्दों में ही यह कह देना ठीक समझता हूं कि मुझे आपकी जरूरत है। मेरे जीवन की गाड़ी में एक ही पहिया है। इसलिये ठीक से चल नहीं पाती। इस गाड़ी का दूसरा पहिया मैं आपको बनाना चाहता हूं। मुझे आपका मन भी चाहिये और चाहिये प्यार से लबालब भरे दिल का आवरण—यह सुन्दर तन, यह सलोना मुखड़ा और वह सब कुछ जो आपका अपना है।

एक बात स्पष्ट करना बहुत जरूरी है। आप जानती हैं, ऐश्वर्य के साधनों का मेरे पास नितान्त अभाव है, लेकिन सिर पर छाया, पेट भरने के लिये अन्न, और तन ढांकने के लिये वस्त्र हम दोनों मिलकर मुहय्या कर लेंगे, ऐसा मेरा अपना विश्वास है।

आपकी प्यारी प्यारी अतल गहरी आँखों ने तो पहले ही स्वीकृति दे दी है, ऐसा मैंने समझा है। किन्तु मुंह से स्वीकृति मिलने पर ही.....

आगे स्याही बिखर गयी थी। पढ़ा नहीं जा सकता था।

ख़त का एक एक शब्द जुगिन्दर के हृदय में उतर गया।

पढ़कर उसका रोम रोम हर्षोल्लास से नाच उठा। उसके दिल के किनारों से भावनाओं की लहर टकराने लगीं। उन भावनाओं का सही सही विश्लेषण कर सकने की स्थिति में वह नहीं थी। उसने अपने आपको, मन में उठते झंझा के हवाले कर दिया—झिझकते हुए, डरते हुए, एक नयी-सी, अनोखी-सी खुशी की अनुभूति के साथ।

उसका मन करने लगा कि वह दौड़ती हुई जाकर चन्दर को अपने दिल की सारी बात कह दे। कुछ भी परदा न रखे। और उसके इतना करीब हो जाय, इतनी कि दोनों के बीच किसी का व्यवधान न रह जाय।

फिर जैसे कोई भीतर से उसे कह रहा हो—जुगिन्दर! तू अपना सिर चन्दर के विशाल वक्षस्थल पर टिका दे और इशारे से उसे समझा दे कि वह तुझे अपनी सशक्त बाहों में भर ले तथा इतनी जोर से दबाये, इतनी जोर से कि तू बेहोश-सी हो जाय, सब कुछ भूल जाय। सब कुछ—समाज की प्रताड़ना, खानदान की झूठी शान, डर, झिझक।

लेकिन ऐसा वह कर नहीं सकी। नारी-सुलभ लज्जा ने उसके पैर जकड़ दिये। किसी तरह इस जकड़ से छूटने की वह कोशिश भी करती तो समाज और खानदान की भयानक कांटेदार झाड़ियों से रुके रास्ते से उसे गुजरना पड़ता और खूँखार कर्नल से लोहा लेना पड़ता। और इतना साहस वह अभी तक अपने में

बटोर नहीं पायी थी। इसलिये पर कटे पक्षी की तरह उड़ने की कोशिश के साथ ही वह जमीन पर आ गयी।

फिर भी वह आज खुश थी। बेहद खुश! इस नये-से आनन्द की अनुभूति उसके मन-प्राण को झकझोर डाले दे रही थी। कई वर्षों बाद आज उसकी पलकें सुख की नींद से बोझिल हो उठीं।

वह सबेरा उसे बड़ा भला लगा। सूरज की किरणें जैसे उसके लिये उमड़ती खुशियों का आलम लेकर आयी हों। रात उसे अच्छी नींद आयी थी। मन के उल्लास से उसका चेहरा फूल की तरह खिल उठा था। उसने अपने शरीर में ताज़गी और स्फूर्ति अनुभव की। उठते ही उसके एक लम्बी अङ्गड़ाई ली। एक जवान और विहँसती-सी अङ्गड़ाई! फिर वह खिड़की के पास आ गयी। सामने बगीचे में चारों ओर ऊँचे-ऊ चे देवदार तथा चील के पेड़े खड़े थे, जैसे ये पृथ्वी और आकाश की दूरी नाप रहे हों। इनके बीच में चमकीली, हरी-हरी मख-मली घास बिछी थी। घास पर ओस की बूंदें ऐसी दिखती थीं; जैसे दुलहे के कमरे के देहलीज पर ठिठकी-सी, सहमी-सी नई-नवेली दुलहन। कोई ढ़केल दे तो अपने प्रियतम के पास भीतर जाय!

जुगिन्दर की आँखों को यह बहुत भाया। उस मखमली घास

पर चहलकदमी करने के लिये उसका जी मचल उठा। बगीचे की ओर जाने के लिये वह अपने कमरे से बाहर होने वाली ही थी कि अचानक कोने में स्थित आदमकद शीशे पर उसकी नज़र अटक कर रह गयी।

वह शीशे के सामने खड़ी हो गयी।

जाने कितने दिनों बाद आज उसने अपने आपको शीशे में देखा था।

सहसा उसे अनुभव हुआ कि उसके सारे शरीर पर एक नये प्रकार का माधुर्य आ गया है। गालों पर आलौकिक लावण्य बिखर गया है। उन पर पके गुलाबख़ास आम की जैसी लाली छा गयी है। होंठ रसभरी पिटारी जैसे हो गये हैं। उन में एक मनमोहक-सी प्यारी-प्यारी चमक आ गयी है। अचानक उसे लगा—जैसे इन होठों पर बग़ावत की मधुर भावना नाच रही हो।

सामने, गर्दन से नीचे के हिस्से में काफी उभार आ गया है, कुछ भारी भारी जैसा लगता है। स्तनों को जैसे किसी ने उनकी अपनी विस्मृत शक्ति की याद दिला दी हो। जैसे वे अपनी महिमा जान गये हों। मानो अब वे अति तुच्छ, छोटे-से, मामूली-से कपड़े के बन्धन में रहना अपना अपमान समझते हों।

स्वयं पर मुग्ध, रोम-रोम में उमड़ती हुई खुशियों का ज्वार छिपाये, गुनगुनाते हुए वह बाहर की ओर चल दी।

"डार्लिंग, हाउ बिउटीफुल यू लुक टु-डे।" जुगिन्दर के कानों ने कर्नल की नज़दीक आती आवाज सुनी।

उसकी आँखों ने देखा—उसका बूढ़ा 'अङ्कल' अपनी जवान बीवी की कमर में हाथ डाले पेड़ों के एक झुरमुट में से निकल रहा था।

उसकी सारी खुशी कपूर की तरह उड़ गई और उसका स्थान एक गहरी वेदनामय टीस ने ले लिया। उसके हृदय को जैसे भातर ही भीतर कोई कचोटने लगा हो। असह्य होती वेदना की इस अनुभूति ने उसकी आँखों को सजल बना दिया। वह अस्वाभाविक गति से भागती-सी अपने कमरे में आकर पलङ्ग पर पड़ गयी। तकिया में मुंह छिपाकर सुबक सुबक कर रोने लगी।

लेकिन बहुत देर तक वह रा भी नहीं सकी। थोड़ी देर बाद ही कर्नल और 'आँटी' उसके कमरे में आये। उन्होंने बताया कि अब यहां सर्दी बहुत पड़ने लग गयी है, और कि आज आगरा के लिये रवाना होना है।

"आगरा ? आगरा क्यों ? 'अङ्कल' !"—जुगिन्दर ने पूछा।

उत्तर 'आँटी' ने दिया—"शरत-पूर्णिमा की रात में पूरे चाँद की रोशनी में ताज़महल बड़ा भला मालूम होता है। उस रात दूर दूर से लोग उसे देखने आते हैं। हम भी उस रात ताज़ देखना चाहते हैं।"

शरत-पूर्णिमा की रात में ताज़महल का अलौकिक छटा निहारने जैसे सारा शहर उमड़ पड़ा हो। चारों तरफ भीड़भाड़। एक हुजूम। कहीं तिल धरने को जगह नहीं। तरतीबवार कटी मखमली घास पर होते हुए, फव्वारों को पार कर कर्नल और उसकी पार्टी ताज़महल की इमारत के अत्यन्त करीब आ गये।

चाँदनी अपनी तमाम खूबसूरती के साथ छिटकी हुई थी। चाँद की चाँदी-सी किरणें ताज़ के सफेद संगमरमर पर पड़कर एक अज़ीबोगरीब नज़ारा पेश कर रही थीं। संगमरमर पर नयनाभिराम कलात्मक पच्चीकारी बड़ी भली लग रही थी। पच्चीकारी के बीच-बीच में थोड़ी-सी ज़गह रिक्त रह गयी थी। इनमें कहीं कहीं ओस की बूंदें अटक कर रह गयी थीं। ओस की इन बूंदों की ओर इशारा करते हुए जुगिन्दर के पास ही खड़े एक युवक ने, जो कि वेश-भूषा से कवि जान पड़ता था, अपने साथ की युवती से कहा—

"इन ओस की बूंदों को देख रही हो?"

"हां।"

"कैसी लगती हैं ये?"

"अच्छी लगती हैं।"

"अच्छी लगती हैं, बस?"

"और क्या?"

"किन्तु मुझे तो लगता है, जैसे आज भी शाहंशाह शाहजहाँ

आकाश में बैठा अपनी प्रियतमा मुमताज़-महल के विरह में आँसू बहा रहा है। ये ओस की बूंद उसके आँसू ही तो हैं जो उसकी बेगम की मज़ार पर अटक कर रह गये हैं।"

युवती की बड़ी बड़ी आँखें थोड़े विस्मय से और बड़ी हो गईं। उसके अधरों पर मुसकराहट चमक उठी।

जुगिन्दर ने अपने करीब खड़े चन्दर की ओर देखा। चन्दर उसी की ओर देख रहा था। जुगिन्दर की आँखें आज शर्म से झुक नहीं गयीं थीं। बड़ी ढ़ीठ हो गयी थीं वे आज। उसकी आँखें आज बेनक़ाब हो गयी थीं। झिझक और डर का खोल जैसे आज अपने आप चकनाचूर हो गया हो।

जुगिन्दर की नाक में एक अपरिचित-सी महक समा गयी। यह महक चन्दर के शरीर से आ रही थी। लेकिन यह महक सेंट या इत्र की नहीं थी। यह स्वस्थ प्यार की महक थी, जवानी की खुशबू थी, अच्छे स्वास्थ्य की सुगन्ध थी। जुगिन्दर को महसूस हुआ कि यह महक, यह खुशबू, यह सुगन्ध उसे मदहोश बनाये दे रही है। उसे लगा—एक पागलपन-सा उस पर छाता जा रहा है। उसने इसका विरोध नहीं किया, बल्कि आनन्द की अज्ञात-सी अनुभूति के साथ उसने अपने आपको इस मदहोशी और पागलपन के हवाले कर दिया।

कर्नल और 'आँटी' भीतर मज़ार की ओर उतर गये। जुगिन्दर और चन्दर धीरे धीरे ताज़ के पिछले हिस्से में चले आये।

कोहनी के सहारे रेलिंग पर झुक कर वे दोनों खड़े हो गये। नीचे जमुना बह रही थी।

अक्टूबर के महीने में भी यमुना पर बरसात की-सी जवानी छायी थी। कालिन्दी के विशाल पाट पर चाँदनी का स्निग्ध, मन-भावन प्रकाश फैला था। यमुना में ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही थीं। ये आकर ताज़महल की दीवार से टकरातीं। एक ध्वनि पैदा होती। लहरों को दीवार की मजबूती और अपनी कमजोरी का जैसे अहसास होता हो और जैसे इस पर वे झल्ला पड़तीं हों! इस झल्लाहट से किनारे का जल फेनिल हो जाता। फिर वे लौट जातीं।

लेकिन यह लौट जाना हार का प्रतीक नहीं था, बल्कि ऐसी कुशल सेना की तरह था जो आवश्यकतानुसार पीछे हटती है और मौका देख कर या शक्ति-संचय कर पुनः आक्रमण कर देती हैं। लहरें दूनी शक्ति के साथ, दूने वेग से पुनः हमला करतीं, जैसे ताज़ की इस बुनियाद को तोड़ डालने का उन्होंने निश्चय कर लिया हो।

जुगिन्दर को लगा—जैसे यह कालिन्दी कोई शुभ्र श्यामवर्णा युवती हो और चाँदनी की स्वच्छ, सफेद चादर ओढ़ अपने प्रियतम से मिलने जा रही हो—अभिसारिका-सी छिप कर नहीं; बल्कि डंके की चोट, बिना किसी डर के, बिना किसी झिझक के। जिस तरह लहरें ताज की दीवार को तोड़ने का निश्चय कर चुकी हैं, ठीक वैसे ही लगता है—यह श्यामा आज सारे

बन्धनों को, सारी सामाजिक मान्यताओं को और स्थापित मर्यादाओं को तोड़ कर अपने पथ पर चल पड़ेगी। जेसे इस उमड़ते तूफान को आज कोई रोक नहीं सकेगा। जो कोशिश करेगा वह मिट जायेगा, पिस जायेगा।

करीब तीन बजे सुबह वे होटल लौटे।

कर्नल और 'आँटी' जब अपने कमरे में चले गये, चन्दर ने जुगिन्दर से कहा—"आप के फैसले का अभी तक इन्तजार है।"

"....."

जुगिन्दर एक टक चन्दर की ओर देखती रही।

"अभी निर्णय पर नहीं पहुँच पायी हैं क्या?"

"मैं बेवा हूँ।"

"जानता हूँ।"

"मेरी एक बच्ची भी है।"

"मैं उसे अपनी जान से भी ज्यादा प्यार करूंगा। लेकिन वह है कहां? मैंने उसे नहीं देखा।"

"वह अपनी नानी के पास गाँव में रहती है।"

एक क्षण—दोनों चुप रहे। फिर जुगिन्दर ही बोली—

"लेकिन....., हां.....एक.....बात.....

जुगिन्दर काँप उठी। उसकी आवाज अवरुद्ध हो गयी। आँखें सजल हो उठीं।

चन्दर ने कहा—"कहिये ! बोलिये ! लेकिन क्या ?"

"....."

चन्दर ही फिर बोला—"डर और झिझक की कोई बात नहीं है। हम कोई बुरा काम करने नहीं जा रहे हैं। हम ज़िन्दा रहना चाहते हैं। ठीक से ज़िन्दगी बिताने के लिये हम दोनों एक दूसरे की आवश्यकता महसूस करते हैं। महसूस करते हैं, इसलिये मिल कर एक हो जाना चाहते हैं। मुझे तो यह कोई बुरी बात नहीं लगती, लेकिन अगर आप अन्यथा समझती हों तो स्पष्ट कहिये।"

"बात यह है कि हमारे खानदान में आज तक ऐसा नहीं हुआ है। हमारे यहां सब पढ़े-लिखे तो हैं। सब बातों में 'एडवांस्ड' भी हैं। मर्द तीन-तीन, चार-चार शादियाँ कर सकते हैं, लेकिन लड़कियां बेवा होने पर शादी की बात सोच भी लें तो गुनाह है, पाप है।"

"अगर आप इसे पाप समझती हैं तो पीछे लौट जाइये। लेकिन, अगर आप इसे अन्याय समझती हैं तो प्रतिकार के लिये खड़े हो जाइये। बस दो ही रास्ते हैं।"

"मैं इसे अन्याय ही समझती हूँ। खड़ा होना भी चाहती हूँ। लेकिन जब मैं ऐसा सोचती हूँ तो मेरी फूफी का मासूम, दर्द भरा चेहरा मेरी निगाहों में घूम जाता है। और...और... मेरा मन डोलने लगता है। मेरे पैर काँपने लगते है।"

"मैं कुछ नहीं समझा।"

"मेरी फूफी थीं—अचला। भरी जवानी में ही बेवा हो गयी थीं। जीने के लिये सहारा बनाना चाहा था उन्होंने एक मास्टर को। 'फादर' और 'अङ्कल' ने उस मास्टर को ऊपर से फेंक दिया और फूफी को एक कमरे में बन्द कर दिया। कमरे में वह तब तक बन्द रखी गयीं जब तक कि तड़प-तड़प कर वह मर नहीं गयीं।"

जुगिन्दर जोर जोर से साँस लेने लगी; जैसे फूफी का लाश उसकी नजरों के सामने फिर से आ गयी हो। उसके चेहरे पर पसीने की बूंदें छा गयीं।

चन्दर ने अपने हाथ के रूमाल से उसका पसीना पोंछ दिया।

कुछ देर बाद जुगिन्दर बोली—

"मैं उस समय बिल्कुल बच्ची थी। कुछ समझ नहीं पायी थी। लेकिन आज सब कुछ समझ पा रही हूँ। मेरे लिये तो जीवन भार हो गया है। इस तरह भी मरना है, और तुम्हारे साथ इस अन्याय का विरोध करते हुए भी मरने को तैयार हूँ। लेकिन तुम्हारी ज़िन्दगी की बड़ी कीमत है। रङ्गीन और शानदार भविष्य तुम्हारे स्वागत के लिये तैयार खड़ा है। ऐसा मेरी आँखें देख रही हैं। तो.....तो.....मैं अपने स्वार्थ के लिये तुम्हारा जावन क्यों बरबाद करू ?"

हाथों में अपना चेहरा छिपा कर जुगिन्दर सुबकियां लेने लगी।

चन्दर तुरत बोला—

"कमजोर मत बनो जुगिन्दर! हमेशा हमेशा से ये लोग मासूम ज़िन्दगियों को नष्ट करने की कोशिश करते आये हैं। लेकिन नष्ट कर नहीं सके हैं। इन विरोधी तत्वों के सामने ही ज़िन्दगी पली है, परवान चढ़ी है, मुसकराई है और सङ्घर्ष में विजयी हुई है। वह जमाना लद गया। पुरानी बात भूल जाओ। आज हम जियेंगे। हमें आज कोई नहीं मार सकता।"

"लेकिन मुझे विश्वास नहीं होता कि 'अङ्कल' हमें यों खुशा-खुशी चले जाने देंगे।"

"डरो मत! मेरा विश्वास है, हम मरने के लिये नहीं मिले हैं। लेकिन अगर तुम्हारे मन में इतना खौफ़ है तो.....तो तुम सुन लो, ज़िन्दगी की रक्षा के लिये मैं अपनी एक जान खुशी-खुशी वार दूंगा।"

"मतलब?"

"मतलब यह कि मैं ज़िन्दगी को प्यार करता हूँ। उसकी इज्जत करता हूँ। प्यार करता हूँ, इज्जत करता हूँ, इसलिये उसके लिये मरना भी मुझे आता है। मौत से मैं नही डरता, मैं तयार हूँ।"

"यू इडीयट, यू ब्लडी, यू फूल...ह...म आइ विल शूट यू डाउन।" कर्नल की गूंजती आवाज ने दोनों को चौंका दिया।"

एक क्षण के लिये दोनों स्तब्ध रह गये।

गुस्से से काँपते हुए कर्नल ने चन्दर की ओर रिवाल्वर तान दिया और कहा—"तुम, तुम मरने का बात करता था? मरने

का ? बात बोलना आसान है। मौत को शामने देखकर अब पीला काहे को होता है ?"

कर्नल की अप्रत्याशित उपस्थिति ने चन्दर को भी एक पल के लिये स्तब्ध बना दिया था अवश्य, लेकिन दूसरे ही पल वह प्रकृतिस्थ हो चुका था और उसने अपना कर्तव्य भी निश्चित कर लिया था। जुगिन्दर के पास से वह आगे बढ़ आया और उत्तर में बोला—

"मैं क्यों पीला पड़ूंगा कर्नल ? मैंने कोई चोरी नहीं की। मैंने कोई पाप नहीं किया। हम दोनों ज़िन्दा रहना चहते हैं। ज़िन्दगी से हमें प्यार है। इसलिये तुम्हारे मौत के साये से दूर चले जाने का हमने निर्णय कर लिया है। हम आज जा रहे हैं, कर्नल ! हमें आज कोई नहीं रोक सकेगा।"

"खाली तुम जाता है तो जाने सकता। हम तुम को माफ कर देगा। जुगिन्दर को हम नहीं जाने देगा। वह जायेगा भी नहीं। वह देखो ! उसने अपना सिर नीचे को गड़ा लिया है। हमारा शामने उसका सिर नहीं उठ सकता।"

कर्नल ने अपना रिवाल्वर नीचे कर लिया था।

हमेशा की डरपोक और कमजोर जुगिन्दर में जाने कैसे, कहाँ से एक नयी- सी शक्ति आ गयी थी। उसने अपना सिर ऊँचा किया। उसकी गर्दन तन गयी। लाल अङ्गारे जैसी आँखें उसने कर्नल के चेहरे पर टिका दीं। कर्नल को महसूस हुआ—

ये आँखें जानी-पहचानी नहीं हैं। ये आँखें नयी हैं, इन आँखों में जो उमड़ता-सा आ रहा है, वह नया है।

जुगिन्दर ने कहा—

"अङ्कल" ! झुके हुए सिर देखते देखते तुम्हें यह भ्रम हो गया है कि कोई तुम्हारे अन्याय के सामने सिर उठा ही नहीं सकता। लेकिन, आज यह तनी हुई गर्दन भी देख लो। देख लो, यह कभी नहीं झुकेगी। झुकने के लिये यह नहीं तनी है।" फिर वह चन्दर के पास आ गयी। अपना हाथ उसके हाथ में थमा दिया और पुनः बोली—

"दरअसल 'अङ्कल' ! आज हमें कोई नहीं रोक सकेगा। हम जा रहे हैं।"

"तुम लोग जिन्दा नहीं जाने सकेगा।" कर्नल ने रिवाल्वर तान दिया और चाहा कि घोड़ा दबा दे, तभी चन्दरने बिजली की-सी तेजी से उछल कर कर्नल के रिवाल्वर वाले हाथ पर एक झटका दिया। रिवाल्वर सहन के बाहर दूर अन्धेरे में जा गिरा।

अपने सामने ही कर्नल अपनी आस्था को, अपनी परम्परा को, अपनी मर्यादा को यों नष्ट होते, यों टूटते, यों ढ़हते नहीं देख सकता था। वह गुस्से से पागल हो गया। वह उन्हें ज़िन्दा नहीं जाने देगा ! वह उन्हें जिन्दा नहीं छोड़ेगा ! दौड़ते हुए वह अपने कमरे से बन्दूक उठा लाया और हारी बाजी जीतने के लिये उसने आखिरी दाँव लगा दिया।

लेकिन इस आखिरी दाँव में भी वह हार गया। क्योंकि जुगिन्दर और चन्दर एक दूसरे का हाथ थामे तब तक बन्दूक की मार के बाहर जा चुके थे।

वे दोनों कर्नल के मौत जैसे अंधेरे साये से दूर, जीवन के प्रकाश की ओर बढ़ रहे थे।